पाँच-सदस्य

(एक अत्यन्त रोचक दार्शनिक कथा)

लेखक—
कवि-सम्राट् स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्राप्तिस्थान—
बम्बई बुक डिपो
१९५।१, हरिसन रोड, कलकत्ता-७

संशोधित संस्करण]   रक्षाबन्धन २००६   [मूल्य २॥)

प्रकाशक—
कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स
बनारस-१

मुद्रक :—
उमादत्त शर्मा
रत्नाकर प्रेस
११-ए, सैयद साली
कलकत्ता

पाँच सदस्य

पहली बैठक

वर्षा ऋतुकी नदीका जल उपट कर खेतोंमें भर गया है। हमारी नाव डूबे हुए धानोंके ऊपरसे सों-सों करती चली जा रही है। पास ही ऊँची जमीन पर चहारदीवारीसे घिरा हुआ एक एकतल्ला मकान और दो-चार टीनके घर, केले, कटहल, आमके वृक्ष, बांसकी खूँट तथा एक पीपलका वृक्ष दिखाई देता है।

वहींसे शहनाई और कई-एक ढोल-झालोंकी धीमी आवाज आ रही है। शहनाई बड़ी बे-सुरी है। देहाती गीतके आरम्भ किये हुए अंशको ही वह बार-बार बड़ी बेदर्दीके साथ बजा रही है और ढोल-झालका शब्द बीच-बीचमें उन्मत्त होकर आकाशको विदीर्ण कर देनेकी हामी भरता है।

स्रोतस्विनीने समझा—निकट ही कहीं विवाहोत्सव है। उसने बड़े कौतूहलसे खिड़कीसे सिर निकाल कर वृक्षोंसे ढके हुए किनारे-की ओर उत्सुकता-भरी दृष्टि डाली।

घाट पर बँधी हुई नौकाके मल्लाह से मैंने पूछा—क्यों जी, वहां बाजा क्यों बजता है?

मल्लाहने कहा—आज जमींदारका पुण्याह है।

पुण्याहका अर्थ विवाह नहीं है। यह सुन कर स्रोतस्विनी कुछ

उदास हो गयी। तरुच्छायाच्छादित ग्राम्य-पथ पर वह किसी जगह विवाह-स्थान पर बैठे हुए एक चन्दन-चर्चित अजातश्मश्रु वर अथवा एक लज्जावती रक्ताम्बरा नव-वधूको देखना चाहती थी।

मैंने कहा पुण्याहका अर्थ है, जमींदारोंके संवत्का पहला दिन। आज रैयत अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार कुछ न कुछ मालगुजारी लेकर छावनीमें बैठे हुए, टोपी पहने, वर-वेशधारी कारिन्देके सामने हाजिर होंगे, रुपये देंगे। वह रुपया उस दिन गिनना मना है। अर्थात् मालगुजारीका लेन-देन मानों स्वेच्छाकृत एक आनन्द-कार्य है। इसके भीतर एक ओर कलुषित लोभ और दूसरी ओर हीन भय नहीं है। प्रकृतिमें जैसे लता-वृक्ष आनन्दपूर्वक बसन्तको पुष्पाञ्जलि भेंट करते हैं और वसन्त उसे संचय कर रखनेके अभिप्रायसे गिनता नहीं, वैसे ही यह प्रथा भी समझो।

दीप्तिने कहा—काम तो मालगुजारी वसूल करनेका है, इसमें बाजे-गाजेकी क्या जरूरत है?

क्षितिने कहा—बकरेको जब बलि देनेको ले जाते हैं, तब क्या उसे माला पहना कर गाते-बजाते नहीं हैं? आज मालगुजारी-देवीके निकट बलिदानका बाजा बज रहा है।

मैंने कहा—तुम लोग ऐसा समझ सकते हो, किन्तु मेरी समझमें तो यदि देना ही है तो एकदम पशु-हत्याकी तरह न देकर उसमें जितना ही उच्च भाव रखा जाय, उतना ही अच्छा है।

क्षितिने कहा—मैं तो कहूंगा, जिसका जो सत्य भाव है, उसी पर डटे रहना चाहिये। बहुत बार खोटे कामके भीतर ऊँचा भाव भर हम ऊँचे भावका भी महत्व घटा देते हैं।

मैंने कहा—भावकी सचाई-झुठाई बहुत अंशमें हमारी चिन्ता

पर निर्भर करती है। मैं वर्षा ऋतुकी भरी नदीको एक दृष्टिसे देखता हूं और मल्लाह उसको दूसरी दृष्टिसे देखता है। मैं कदापि यह स्वीकार करनेको प्रस्तुत नहीं हूँ कि मेरी दृष्टि जौं भर भी भ्रमपूर्ण है।

समीरने कहा—बहुत लोग भावकी सचाई-झुठाई, उसके गुरुत्वके परिमाणसे निर्धारित करते हैं। जो जिस परिमाणसें मोटा और भारी है, वह उसी परिमाणमें सत्य है। सौन्दर्य्यकी अपेक्षा धूल, स्नेहकी अपेक्षा स्वार्थ और प्रेमकी अपेक्षा क्षुधा सत्य है।

मैंने कहा—तथापि चिरकालसे मनुष्य इन भारी चीजोंकी अवहेलना करनेका प्रयत्न कर रहा है। धूलको ढक रखता है, स्वार्थको लजाता धिक्कारता है और क्षुधाको चुपकेसे दूर कर देता है। मलिनता संसारकी सबसे पुरानी सृष्टि है। कूड़ा-करकटकी अपेक्षा पुरानी चीजें ही मिलनी कठिन हैं। इसलिये क्या वही सबसे सच्ची है और अन्तःपुरमें जो लक्ष्मी-रूपिणी गृहिणी उसे नित्य धोती-माँजती है, उसीको झूठी कहकर उड़ा दिया जायगा?

क्षितिने कहा—भाई, तुम लोग इतने डर क्यों गये? मैं तुम्हारे इस अन्तःपुरकी दीवारके नीचे डाइनामाईट लगाने नहीं आया हूं। परन्तु जरा ठण्डे होकर विचारो तो सही कि पुण्याहके दिन इस बेसुरी शहनाईको बजानेसे संसारकी कौन-सी भूल सुधरेगी? संगीत-कलाका सुधार तो इससे होगा ही नहीं।

समीरने कहा—सो कुछ नहीं, सिर्फ गा-बजाकर नवीन वर्षमें पदार्पण करना ही इसका उद्देश्य है। सालभरके नाना प्रकारके सुख-दुःख, आपद् विपद्के बाद, एक दिन बैठकर विश्राम करना, आनन्द मनाना ही इस पुण्याहका उद्देश्य है। संसारके स्वार्थ

कोलाहलमें समय-समयपर आनन्दके पंचम सुरको मिला देनेसे थोड़ी देरके लिये तो पृथ्वीकी श्री लौट आती है, ग्राम्य-हाटमें गृहकी शोभा आ पहुँचती है—लेन-देन, खरीद-बिक्रीकी नीरस शुष्क कठोरतापर परोपकार और प्रेमकी स्निग्ध चाँदनी छिटककर उसकी शुष्क कठोरता दूर कर देती है। इस पृथ्वीपर जो कुछ होता है, वह चीत्कार स्वरमें। और जो होना उचित है, वह कभी-कभी बीच-बीचमें, आकर बीचमें बैठ, सुन्दर सुकोमल सुर भरने लगता है। उस समय यह होता है कि सभी चीत्कार स्वर मधुर होकर इस सुरमें सम्मिलित हो जाते हैं—पुण्याह ऐसे ही संगीतका एक दिवस है।

मैंने कहा—उत्सवमात्रका ही यही उद्देश्य है। मनुष्य प्रतिदिन जिस क्रमसे काम करता है, एक-एक दिन उस नियमको भंग करके अपने मनको विश्राम दे लेता है। प्रतिदिन उपार्जन करता है, एक दिन उसे खर्च कर डालता है। प्रतिदिन द्वार बन्द किये रहता है, एक दिन उसे खोल देता है। प्रतिदिन घरमें वही मालिक रहता है, एक दिन वह सबकी सेवामें लग जाता है। वही दिन मंगलका दिन है—आनन्दका दिन है। उसी दिनको उत्सवका दिन कहते हैं। वही दिन वर्षभरमें आदर्श है। उस दिनकी तुलनामें संसारकी समस्त सुन्दर स्निग्ध वस्तुएं तुच्छ हैं। वह फूलकी मालासे भी स्निग्ध और स्फटिकके दीपकसे भी उज्ज्वल है। उसमें सारी सुषुमाओं और अलंकारोंका समावेश है। उस वंशीका जो सुर दूरसे सुन पड़ता है, वह घोषणा करता है, कि यही सुर वास्तविक सुर है और सब सुर व्यर्थ हैं। हम समझते हैं कि परस्पर हृ हृदय मिलाकर हम आनन्द मनाने आये हैं, परन्तु प्रतिदि

अपनी दीनताके कारण हम आनन्द नहीं मना पाते। जिस दिन हम समर्थ होते हैं, वही हमारा प्रधान दिन है।

समीरने कहा—संसारमें दीनताका अन्त नहीं है। यदि उस दृष्टिसे देखते हैं तो मनुष्य जीवन, अत्यन्त शीर्ण-शून्य और श्रीहीन प्रतीत होता है। मानवात्माका आदर्श चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, उसे दोनों वेला एक मुट्ठी अन्नकी आवश्यकता पड़ती ही है। यदि शरीर ढकनेको एक टुकड़ा कपड़ा न हो तो वह लज्जासे गड़ जाता है। इधर तो अपने अविनाशी, अनन्त होनेमें विश्वास रखता है, उधर सुंघनीकी डिबिया खोजाने पर माथा पीटकर मर जाता है। चाहे जैसे ही हो, उसे प्रतिदिन आहार-विहार, खरीद-बिक्री, दर-दाम, मारा-मारी और धक्का-धुक्की करनी ही पड़ती है। इसके लिये वह लाचार है—लज्जित है। इस कारण नीरस, धूलि धूसरित जनाकीर्ण गली-कूचे और बाजार-की कलकाकलीको छिपा रखनेका सर्वदा प्रयत्न करता रहता है। आहार-विहार, आदान-प्रदानमें आत्मा अपनी सौन्दर्य्य-विभाको विस्तृत करनेका निरन्तर प्रयत्न करती रहती है। वह अपने आवश्यकके साथ अपने महत्त्वका एक अच्छा सामञ्जस्य कर लेना चाहती है।

मैंने कहा—उसीका प्रमाण यह पुण्याहकी वंशी है। एक आदमी की भूमि है और दूसरा उसे मूल्य देता है। इस नीरस लेन-देनके भीतर लज्जित जीवात्मा एक भाव-सौन्दर्यको मिला देना चाहती है—दोनोंमें एक आत्मीय सम्बन्ध जोड़ देना चाहती है। वह प्रमाणित करना चाहती है कि इसमें लेन-देनका झगड़ा नहीं है, इसमें प्रेमकी स्वाधीनता है। राजा-प्रजामें भावका सम्बन्ध है।

आदान-प्रदान हृदयका कर्त्तव्य है—मालगुजारीके साथ राग-रागिनीका कोई सम्बन्ध नहीं है। कोषागार शहनाई बजानेका स्थान नहीं है; परन्तु ज्योंही भावका सम्बन्ध आ जाता है, त्योंही बंशी उसे आह्वान करती है, रागिनी उसे प्रकट करती है, सौन्दर्य उसकी सेवा करता है। ग्राम्य-बाँसुरी यथाशक्ति प्रकट करना चाहती है कि आज हमारा पुण्याह है, आज हमारे राजा-प्रजाका मिलन है। जमींदारकी छावनीमें भी मानवात्मा अपना प्रवेश-पथ बना लेना चाहता है, वहाँ भी उसने एक भावका आसन बिछा रखा है।

स्रोतस्विनीने मन-ही-मन सोचते-सोचते कहा—मैं समझती हूं कि इससे केवल संसारके सौन्दर्यकी ही वृद्धि नहीं होती। वास्तवमें दुःखका बोझ भी घट जाता है। संसारमें जब ऊँचाई रहेगी ही, सृष्टि-लोपके पहले जब उसका नाश ही नहीं होता, तब उच्च और नीचमें एक अविच्छिन्न सम्बन्ध रहनेसे ऊँचाईका भार सहना सहज हो जायगा। पैरोंके लिये देहका बोझ सह लेना सहज है, परन्तु उसके अलावे बाहरका बोझ पड़नेसे ही उसके लिये सम्हाल सकना कठिन हो जाता है।

उपमा देकर बातको अच्छी तरह समझाते ही स्रोतस्विनीको लज्जा आई—मानो उसने कोई अपराध किया हो। बहुत लोग दूसरेके भावको चुराकर अपना कहते हुए नहीं लजाते।

व्योमने कहा—जहाँ अपने पराजयकी सम्भावना होती है, वहाँ मनुष्य अपनी हीनताके दुःखको दूर करनेके लिये भावका सम्बन्ध जोड़ लेता है। फिर मनुष्यके साथ ही नहीं, सर्वत्र ही। संसारमें आकर जब मनुष्य दावाग्नि, तूफान और बाढ़का सामना नहीं कर

सका, पर्वत जब शिवके द्वारपाल नन्दीकी नाईं, तर्ज्जनीसे रास्ता रोककर आकाशको चूमता हुआ खड़ा रह गया, आकाश जब अपनी अविचल महिमा और अमोघ इच्छाशक्तिके प्रभावसे शिला-वृष्टि करने लगा, तब मनुष्य उन्हें देवता कहकर पूजने लगा। नहीं तो चिरनिवासभूमि प्रकृतिके साथ मनुष्यका सम्बन्ध कभी स्थापित नहीं हो सकता था। अज्ञात शक्ति प्रकृतिको जब उसने अपने भक्ति-भावसे जीत लिया, तब मानवात्मा उसके भीतर गौरव-पूर्वक निवास करने लगी।

क्षितिने कहा—इसमें सन्देह नहीं कि किसी तरह अपनी गौरव-रक्षा करनेके लिये मानवात्मा नाना प्रकारके कौशलोंका प्रयोग करती है। राजा जब यथेच्छाचार करता है, किसी तरहसे भी उसके हाथसे प्रजाका निस्तार नहीं रहता, तब प्रजा उसे देवता मानकर अपनी हीनताके दुःखको भूलनेकी चेष्टा करती है। पुरुष जब बलवान और क्षमतावान होता है, तब असहाय स्त्री उसे देवता मानकर उसके स्वार्थपर निष्ठुर अत्याचारको कुछ गौरवके साथ सहनेकी चेष्टा करती है। मैं इस बातको स्वीकार करता हूं कि मनुष्यमें यदि इस प्रकार भावसे अभावको ढँक रखनेकी शक्ति न होती, तो अब तक वह मनुष्यसे पशु हो गया होता।

स्रोतस्विनीने मर्माहत होकर कहा—यह बात नहीं कि मनुष्य सिर्फ गत्यन्तर न देखकर इस प्रकार आत्म-प्रतारणा करता है। जहाँ हम किसी तरह हारे हुए नहीं होते, उल्टे यहाँ हमारा ही पक्ष बलवान होता है, ऐसे स्थानमें भी आत्मीयता-स्थापनकी एक चेष्टा देखनेमें आती है। गायको हमारे देशमें लोग माँ कहकर, भगवती मानकर क्यों पूजते हैं? वह तो सिर्फ असहाय पशु ही है। उसे

सताने-मारनेपर भी उसकी ओरसे दो बात कहनेवाला भी कोई नहीं है। हम बलवान हैं, वह दुर्बल है, हम मनुष्य हैं, वह पशु है। किन्तु यहाँ हम इस श्रेष्ठताको छिपानेकी चेष्टा करते हैं। उससे जो उपकार हम पाते हैं, वह बलपूर्वक—सिर्फ इसी कारणसे कि हम क्षमतावान हैं और वह निर्बल है। परन्तु हमारी अन्तरात्मा हमारे इस कामका समर्थन नहीं करती। वह इस उपकारिणी, परम धैर्यवती, शान्तिमयी माताको माँ कहकर उसका दूध पीनेमें यथार्थ तृप्ति अनुभव करती है। मनुष्यके साथ पशुका एक भावात्मक सम्बन्ध—सौन्दर्यका सम्बन्ध—जोड़कर ही उसकी सृजन-चेष्टा शान्त होती है।

व्योमने गम्भीरतासे कहा—तुमने एक बड़ी बात कह डाली है।

सुनकर स्रोतस्विनी चौंक उठी। वह जान भी न सकी थी कि उसने कोई बड़ा दोष कर डाला है। इस अजाने दोषके लिये उसने लज्जा और संकोचके साथ मन-ही-मन क्षमा प्रार्थना की।

व्योमने कहा—यह जो तुमने आत्माकी सृजन-चेष्टाकी बात कही है, उसके बारेमें अनेकों बातें उठती हैं। मकड़ी जालके बीचमें रहकर चारों ओर जाल फैलाती रहती है, वैसे ही हमारी केन्द्रीभूत आत्मा सबके साथ आत्मीयताका बन्धन स्थापित करनेको व्यस्त रहती है। वह निरन्तर विसदृशको सदृश, दूरको निकट और परायेको अपना बना लेती है। वह बैठी-बैठी परापरके बीच सहस्रों सम्बन्ध-सूत्र जोड़ती रहती है। यही जिसे हम सौन्दर्य कहते हैं, वह भी उसीकी सृष्टि है। सौन्दर्य आत्मा और जड़के बीच एक सेतु है। पदार्थ सिर्फ पिण्डमात्र है। हम उसके भीतरसे खाद्य-पदार्थ निकाल लेते हैं, उसमें निवास करते हैं और उसकी चोट भी खाते हैं। यदि

हम उसे पराया करके मानते, तो वस्तु समष्टिके समान दूसरा पराया नहीं था ; परन्तु आत्माका काम ही मेल कराना है। वह बीचमें सौन्दर्यकी सहायतासे सम्बन्ध जोड़ देती है। वह जड़को ज्योंही सुन्दर कहती है, त्योंही वह जड़ उसके भीतर जगह कर लेती है और जड़ने भी उसके हृदयमें स्थान जमा लिया। बस, इसी दिवस बड़ी प्रसन्नता होती है। तब दोनों आनन्दसे पुलकित हो जाते हैं। यह सेतु-निर्माणका कार्य आज तक भी चल रहा है। कविके लिये यह गौरवकी बात है। चारों ओरकी वस्तुओंके साथ हमारा जो पुराना सम्बन्ध है, कवि उसीको दृढ़ करता है और नये-नये सम्बन्धोंकी सृष्टि करता रहता है। प्रतिदिन दूसरेकी पृथ्वी को अपनी और जड़-पृथ्वीको आत्माके निवास योग्य बनाता है। कहना नहीं होगा कि प्रचलित भाषामें जिसे जड़ कहते हैं, मैं भी उसीको जड़ कहता हूं। जड़की जड़ताके विषयमें यदि अपनी सम्मति प्रकट करने जाऊँ, तो उपस्थित सभामें सिर्फ एकमात्र मैं ही सचेतन पदार्थ निकलूँगा।

समीरने व्योमकी बातपर विशेष ध्यान न देकर कहा—स्रोतस्विनीने सिर्फ गऊका दृष्टान्त दिया, परन्तु हमारे देशमें ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं है। उस दिन जब मैंने देखा कि एक आदमी धूपसे जला-भुना नदीके किनारे आया और सिरसे किरासनका खाली कनस्तर उतार, आह भरकर पानीमें कूद पड़ा। तब मेरे चित्तपर बड़ी चोट पहुँची। यह जो सुगभीरसलिला स्रोतस्विनी दोनों उपकूलोंको स्तन-दान करती हुई कलकल नादसे अग्रसर हो रही है, उसके शीतल क्रोड़में अपने तापित शरीरको समर्पित कर जब हम हृदयके आवेगसे मातृ-सम्बोधन करते हैं, उस समय हमें क्या ही

आनन्द मिलता है। जब सुजला, सुफला, शस्यश्यामला सौन्दर्य-मयी वसुन्धरासे लेकर पितृ-पितामहोंकी कुटिया तक हमारे अन्तः-करणमें स्नेहमय सजीव ममत्वपूर्ण-भाव उद्भासित हो उठता है, तब जीवन अत्यन्त उर्वर, सुन्दर, श्यामल प्रतीत होने लगता है। तब संसारके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ जाता है। जड़से जन्तु और जन्तुसे मनुष्य पर्यन्त सभीमें एक अविच्छेद्य एकता है, यह बात हमको अद्भुत नहीं जान पड़ती ; क्योंकि विज्ञानके आभास देनेके बहुत पहले ही हमने यह बात जान ली थी। ज्योतिषीके जन्मपत्री बनानेके बहुत पहले ही हमने नाड़ी देखकर सभी बातें ठीक कर ली थीं—गृहस्थली आरम्भ कर दी थी।

हमारी भाषामें "थक" का प्रतिशब्द नहीं है, इसलिये कोई-कोई अंग्रेज सन्देह करते हैं कि हममें कृतज्ञता है ही नहीं। पर मैं इसके बिलकुल विपरीत देखता हूँ। कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये हमारा अन्तःकरण सदा लालायित रहता है। जड़-जन्तुओंके निकटसे भी हम जो उपकार पाते हैं, उसका प्रतिदान देनेके लिये भी हम व्यग्र रहते हैं। जिस जातिका लठैत अपनी लाठीको, छात्र अपनी पुस्तकको और शिल्पी अपने यन्त्रको कृतज्ञता प्रकट करने की लालसासे पूजा करता है, एक विशेष शब्दके न होनेके कारण उस जातिको अकृतज्ञ नहीं कहा जा सकता।

मैंने कहा—कहा जा सकता है ; इसलिये कि हमने कृतज्ञताकी सीमा पार कर दी है। हम जो एक-दूसरेसे बहुधा बिना संकोचके सहायता लेते हैं, अकृतज्ञता इसका कारण नहीं है। इसका प्रधान कारण है—एक-दूसरेके बीच स्वातन्त्र्य भावका अपेक्षाकृत अभाव। भिक्षुक और दाता, प्रभु और भृत्य, अथिति

और गृहस्थ, आश्रित और आश्रयदाताका सम्बन्ध एक स्वाभाविक सम्बन्ध है। ऐसी अवस्थामें कृतज्ञता प्रकट करके उऋण होनेका भाव किसीके मनमें नहीं आता।

व्योमने कहा—विलयाती ढंगकी कृतज्ञता हम देवताओंके प्रति भी नहीं दिखलाते। अंग्रेज कहते हैं "थैंक गौड" तब उनके कहनेका आशय होता है, कि ईश्वरने हमारे प्रति कृपादृष्टि करके जब उपकार कर दिया है तो उसके उपकारको स्वीकार न करके हम क्यों बर्बर बनें? हम अपने देवताओंके प्रति कृतज्ञता नहीं प्रकट कर सकते, क्योंकि हमारी कृतज्ञता उनके पदके उपयुक्त नहीं होगी। कृतज्ञता देने जाकर हम उन्हें ठगनेकी चेष्टा करेंगे। इसका मतलब यह होगा कि देवताओंने मेरे प्रति उपकार किया है तो मैंने भी अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है। परन्तु स्नेहमें एक तरहकी अकृतज्ञता है। वह स्नेहकी अकृतज्ञता भी स्वातन्त्र्यकी कृतज्ञतासे कहीं अधिक मधुर, गम्भीर है।

इस उदार अकृतज्ञताका किसी युरोपियन भाषामें अनुवाद नहीं हो सकता।

क्षितिने कटाक्ष करके कहा—युरोपियनोंके प्रति हमारी जो अकृतज्ञता है, मालूम होता है, उसका भी कोई गंभीर और उदार कारण है। जड़-प्रकृतिके साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करनेके विषयमें जो बातें हुई हैं, वे बहुत ही रोचक हैं, और सन्देह है कि वे गंभीर भी हैं, क्योंकि अभी तक ये मेरी समझमें ही नहीं आयीं। सभीने तो एक-एक करके डींग हाँकी है कि प्रकृतिके साथ हमने भावात्मक सम्बन्ध जोड़ रखे हैं। यूरोप ही हमारे साथ परायेका सम्बन्ध रखता है, उसीका व्यवहार विच्छेदमूलक

है। पर मैं पूछता हूँ, यदि युरोपीय साहित्य—अंग्रेजी भाषा हम न जानते होते तो क्या आजकी सभामें यह आलोचना सम्भव होती ? और जिन्होंने अंग्रेजी पढ़ी नहीं है, वे क्या इसका पूरा-पूरा अर्थ कभी समझ सकेंगे ?

मैंने कहा—नहीं, कभी नहीं। इसका एक कारण है, प्रकृतिके साथ हमारा सम्बन्ध भाई-बहनका है और अंग्रेजोंका सम्बन्ध मानों स्त्री-पुरुषका है। हम जन्मसे ही आत्मीय हैं—हम स्वभावसे ही एक हैं। हम उसके भीतर नयी-नयी विचित्रता, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावच्छाया देख पाते हैं। एक प्रकारके अन्धे चेतनाहीन स्नेहमें हम डूबे रहते हैं। और अंग्रेज प्रकृतिके बाहरसे भीतर प्रवेश करते हैं। वह अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा कर सके हैं, इसलिये उनका परिचय इतना आनन्दमय और मनोहर है तथा मिलन इतना मधुर और प्रगाढ़ है। वह भी नव-वधुकी नाईं प्रकृतिको अपने वशमें लानेकी चेष्टा करता है और प्रकृति भी उसको लुभानेके लिये अपने गूढ़ सौन्दर्य्यका कपाट खोल देती है। वह पहले प्रकृतिको जड़ समझता था। अकस्मात् एक दिन उसने प्रकृतिके नव-यौवनको देखकर उसके अनिर्वचनीय अपरिमेय आध्यात्मिक सौन्दर्य्यका आविष्कार किया। हमने आविष्कार नहीं किया। कारण, हमारे मनमें शंका भी न हुई—प्रश्न भी न उठा।

एक आत्मा दूसरी आत्माके संघर्षसे अपनेको अच्छी तरह पहचान सकती है, तभी वह मिलनकी आध्यात्मिकताका पूर्णतः अनुभव कर सकती है। किसी कविने लिखा है—ईश्वरने अपने ही पितृअंश और मातृअंशको स्त्री-पुरुषके रूपमें पृथ्वीपर विभक्त कर दिया है। ये विच्छिन्न अंश ही एक होनेके अभिप्रायसे एक

दूसरेके प्रति किसी अनिवार्य आनन्द द्वारा आकृष्ट होते जाते हैं। किन्तु यदि यह विच्छेद न होता तो एक दूसरेमें इतना प्रगाढ़ प्रेम न होता। एकताकी अपेक्षा मिलनमें ही अधिक आध्यात्मिकता है।

हम पृथ्वीको मां कहते हैं। छायेदार पीपल और नदी तथा वटवृक्षकी पूजा करते हैं। पत्थरको सजीव मानते हैं। परन्तु आत्माके भीतर उसकी आध्यात्मिकताका अनुभव नहीं करते। अधिकन्तु आध्यात्मिकको ही वास्तविक कर डालते हैं। हम उसमें अपने मनकी कल्पनासे मूर्ति प्रतिष्ठित कर देते हैं, हम उससे सुख-सम्पद् और सफलताकी प्रार्थना करते हैं। परन्तु आध्यात्मिक सम्बन्ध सिर्फ सौन्दर्य्य और आनन्दका सम्बन्ध है, वह सुविधा-असुविधा, संचय-अपचयका सम्बन्ध नहीं है। स्नेह-सौन्दर्य्य प्रवाहिनी जाह्नवी जब आत्माको आनन्द देती है, तब वह आध्यात्मिक रहती है, पर ज्योंही हम उसे किसी मूर्तिविशेषमें निबद्ध करके इह-लोक परलोकके किसी विशेष उपकारकी प्रार्थना करते हैं, त्योंही वह सौन्दर्य्य हीन मोह—अज्ञानता मात्र रह जाती है, त्योंही हम अपनी देवीको जड़मूर्ति कर डालते हैं।

मातृ गंगे! मैं तुमसे इहलोकके लिये सम्पद और परलोकके लिये पुण्य नहीं माँगता और माँगनेपर पा भी नहीं सकता। परन्तु शैशवकालसे ही, कितने ही दिन, सूर्य्योदय और सूर्य्यास्तके समय, कृष्ण पक्षकी क्षीण चाँदनी और वर्षा ऋतुके मेघाच्छादित मध्याह्नमें, मेरी अन्तरात्माको जो अवर्णनीय, अलौकिक पुलकावली होती थी, मेरी प्रार्थना है कि, मेरे दुर्लभ जीवनके वही आनन्दमय अंश जन्म-जन्मान्तर अक्षय रहें। पृथ्वीसे मैंने सारे जीवन जो निरुपम सौन्दर्य्य एकत्र किये हैं, मेरी प्रार्थना है, कि संसारसे जाते

समय उन्हें प्रफुल्ल कमलके समान हाथमें लेकर जा सकूँ और रास्तेमें यदि मेरे प्रियतमसे भेंट हो जाय तो उनके कर कमलोंको अर्पण करके अपने मानव जीवनको सार्थक करूँ।

दूसरी बैठक

समीरने एक विषम समस्या उपस्थित कर दी। उन्होंने कहा—अंग्रेजी साहित्यमें गद्य या पद्य दोनों ही प्रकारके काव्योंमें नायक और नायिकाकी महत्ताका समान विकास पाया जाता है। डेसडेमोनाके सामने इयागो और ओथेलो तनिक भी हीनप्रभ नहीं हैं। क्लियोपेट्रा यद्यपि अपने श्यामल बंकिम बन्धन जालमें एराटनी-को आबद्ध करनेमें समर्थ हुई है, परन्तु लता-पाशसे जकड़े हुए भग्नजयस्तम्भकी नाईं एण्टनीकी श्रेष्ठता सबके सामने प्रकट हो गयी है। लैमरमूरकी नायिका अपने करुण, सरल सुकुमार सौन्दर्य्यसे हमारे मनको भले ही मुग्ध कर ले, रेवेन्सउडके विषण्ण नायककी ओरसे हमारी दृष्टि भले ही न फिरे, किन्तु बंगला साहित्यमें स्त्रीकी ही प्रधानता देखी जाती है। कुन्दननन्दिनी और सूर्य्यमुखीके सामने नगेन्द्रकी प्रभा बिलकुल मलिन है, रोहिणी और भ्रमरके निकट गोविन्द लाल दिखलायी ही नहीं पड़ता, ज्योतिर्मयी कपाल कुण्डलाके सामने नन्दकुमारकी प्रभा टिमटिमाते हुए जुगनू-के समान है। प्राचीन बंगला काव्य में भी यही बाते हैं। विद्या-सुन्दरमें यदि किसीकी सजीवमूर्त्ति है, तो सिर्फ विद्या और

मालिनी की है। सुन्दरके चरित्रमें कुछ भी सार पदार्थ नहीं है। कविकङ्कण चंडीके विशाल समतल क्षेत्रमें केवल फुल्लरा और खुल्लना डोलती-फिरती हैं, व्याध तो एक विकृत वृहत् स्थाणुप्रमात्र है और धनपति एवं उसका पुत्र तो किसी कामके ही नहीं हैं। बंगसाहित्यमें पुरुष महादेवकी नायीं धूलमें निश्चल लोटा पड़ा है और स्त्री छातीपर जाग्रत और सजीव भावसे विराज रही है। इसका कारण क्या है?

सामीरके प्रश्नका उत्तर देनेके लिये स्रोतस्विनी व्याकुल हो उठी थी और दीप्ति ध्यान न देनेका भान करके टेबुल पर रखी हुई पुस्तकको खोलकर देखने लगी।

क्षितिने कहा—तुमने बंकिम बाबूके जिन कई एक उपन्यासों-का उल्लेख किया है, उनमें सभी मानस प्रधान है, कर्म्मप्रधान कोई नहीं। मानस जगतमें स्त्रियोंकी ही प्रधानता अधिक होती है, कर्म जगतमें मनुष्यका प्रभुत्व अधिक है। जहां सिर्फ हृदयवृत्ति का प्रसङ्ग होगा, वहाँ पुरुष-स्त्रीके सामने डट कैसे सकता है? कार्य्य क्षेत्रमें ही उसके चरित्रका पूर्ण विकास होता है।

दीप्ति अब चुप न रह सकीं। पुस्तक फेंक, उदासीनताका भाव त्यागकर बोल उठीं—क्यों? दुर्गेशा-नन्दिनीमें बिमलाका चरित्र किस काममें विकसित नहीं हुआ? इतनी निपुणता, इतनी तत्परता और ऐसा अध्यवसाय उक्त उपन्यासमें कितने नायकोंमें पाया जाता है? आनन्दमठ तो कार्य्य-प्रधान उपन्यास है। सत्यानन्द, जीवानन्द, भवानन्द इत्यादि सन्तान-सम्प्रदायके पात्रोंने काम किया है सही, पर उनके कार्य्य कविके वर्णन मात्र हैं, यदि किसीके चरित्रमें कार्य्यकारिताका पूर्ण और वास्तविक विकास

हुआ है तो शान्तिके चरित्रमें, देवीचौधरानीमें किसने कर्तृत्वपद प्राप्त किया है? स्त्रीने। किन्तु क्या वह प्रभुत्व—वह कर्तृत्व अन्तःपुरका है? कभी नहीं।

समीरने कहा—भाई क्षिति! तर्कशास्त्रकी सरल रेखा द्वारा सभी चीजोंको नियमित रूपसे श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता। शतरञ्जकी पटरी पर ही लाल काले रंगके खाने काटे जा सकते हैं; क्योंकि वह निर्जीव काठकी चीज है पर मनुष्य का चरित्र तो उतनी साधारण चीज नहीं है। तुम अनेक युक्तिबलसे भाव प्रधान, कर्म्मप्रधान इत्यादि कितनी ही अकाट्य सीमाओंका निर्देश क्यों न कर दो, पर सभी विशाल संसारके विचित्र कार्य्यक्षेत्रमें, उलट-पलट जाती हैं, समाजके लोह-कड़ाहेके नीचे यदि जीवनकी आग न जलती तो मनुष्यका श्रेणीविभाग ठीक समान भावसे अचल-अटल रहता। किन्तु जीवन शिखा जब जल उठती हैं, तब छन-छन करके सारा जीवन चरित्र जलता रहता है और नई-नई आश्चर्यजनक विचित्र सीमाएँ बनती रहती हैं। साहित्य उसी परिवर्त्तनशील मानवजगत्का चञ्चल प्रतिबिम्ब है। उसकी समालोचनाको शास्त्रके विशेषणोंसे बाँधनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है। हृदयवृत्तिमें स्त्री ही प्रधान होती है, ऐसा कोई जोर देकर नहीं कह सकता। ओथेलो तो मानसप्रधान नाटक है, पर उसमें नायकके हृदयावेशकी प्रबलता क्या ही प्रचण्ड है! किंगलियरकी हृदय-झटिका क्या ही भयंकर है।

व्योम सहसा अधीर होकर बोल उठे—ओः! तुमलोग व्यर्थ-तर्क कर रहे हो। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखो तो देखोगे, कि कार्य्यमात्र ही स्त्रीका धर्म है, कार्य्यको छोड़ स्त्रीको

अन्यत्र स्थान ही नहीं है। यथार्थ पुरुष योगी उदासीन, निर्जनवासी है। कैलेडियाकी मरुभूमिमें पड़कर गड़ेरिया जब अकेले ऊपर दृष्टि किये आधी रातको आकाशके नक्षत्रोंकी गतिविधिका निरीक्षण करता था, तब उसे क्या ही आनन्द मिलता था! कोई स्त्री क्या इस प्रकार व्यर्थ अपना समय बिताना पसन्द करेगी? जिस ज्ञानसे कोई काम न निकले, उसे प्राप्त करनेमें कौन स्त्री अपना समय गँवायेगी? जो ध्यान सिर्फ संसारत्यागी विशुद्ध आत्माके लिये ही आनन्दजनक है, उसे कौन स्त्री मूल्यवान् समझेगी? क्षितिके कथनानुसार यदि मनुष्य वास्तवमें कार्य्यशील होता तो मनुष्य समाजकी इस प्रकार उन्नति न होती, इस प्रकार नवीन तत्व, नवीनमें भाव आविष्कृत न होते। निर्जनताके भीतर—अवसरके भीतर—ज्ञानका प्रकाश—भावका आविर्भाव होता है। जो यथार्थ मनुष्य है, वह सर्वदा उसी निर्लिप्त निर्जनतामें निवास करता है। कर्मवीर नैपोलियन भी कभी अपने कार्यमें लिप्त नहीं रहता था। वह जहां कहीं रहता था, एक महती निर्जनतामें अपने भावाकाशसे घिरा रहता। वह सर्वदा एक वृहती आइडिया द्वारा रक्षित रहकर भीषण कार्य्यक्षेत्रमें भी निर्जनता अनुभव करता था। भीष्म तो कुरुक्षेत्र युद्धमें सबसे बड़े नायक थे, किन्तु उस भीषण लोक-संहारके भीतर भी उनके समान निर्जनवासी कौन था? वह काम करते थे या ध्यान करते थे? स्त्री ही वास्तवमें कर्मी है। उसके कार्य्यके बीच कोई व्यवधान नहीं है। वह कर्ममें एकदम लिप्त रहती है। वही वस्तुतः लोकालयमें निवास करती है—संसार रक्षा करती है। स्त्री ही वास्तवमें सम्पूर्ण रूपसे साथ दे सकती है—वही पूर्ण

रूपसे हिल-मिल जाती है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता।

दीप्तिने कहा—तुम्हारी सभी बातें ही अनोखी होती हैं। किस की सामर्थ्य है कि उन्हें समझ सके। मेरा यह कहना नहीं है, कि स्त्रियाँ कोई काम ही नहीं कर सकतीं। तुम उन्हें काम करनेका समय ही कहाँ देते हो?

व्योमने कहा—स्त्रियाँ अपने आप कर्मबन्धनमें बँध गयी हैं। जलता हुआ अंगारा जैसे अपने आप जलकर राख हो जाता है, वैसे ही स्त्री अपने स्तूपाकार कार्य्यविशेषसे अपनेको ढँक लेती है। वही उसका अन्तःपुर। उसके चतुर्दिक तनिक भी अवकाश नहीं। यदि उसको राखसे निकालकर बहिःसंसारकी कार्य्य-राशिमें डाल दिया जाय, तो बड़ी उथल-पुथल हो जाय। पुरुषकी शक्ति नहीं, कि उसकी तीव्र गतिका अनुसरण कर सके। मनुष्यको काम करनेमें विलम्ब होता है। उसके और उसके कार्य-क्षेत्रमें एक दीर्घपथ रहता है। वह पथ अनेकों चिन्ताओंसे ढका रहता है। यदि स्त्री एक बार बहिर्विप्लवमें सहायता दें, तो क्षण भरमें सारी चिन्तायें धाँय-धाँय कर जल उठें। इस प्रलयकारिणी कार्य्यशक्तिको संसारने बाँध रखा है। इस अग्निसे सिर्फ शयनगृहका दीपक जलता है—शीतार्त्त प्राणियोंका शीत निवारण और क्षुधार्त्तोंका क्षुधा निवारण होता है। यदि हमारे साहित्यमें ये सुन्दर अग्नि-शिखायें तेज-दीप्यमान हो गई हों, तो इस विषयमें वाद-विवादकी क्या आवश्यकता है?

मैंने कहा—हमारे साहित्यमें स्त्रियोंने प्रधानता प्राप्त की है,

इसका प्रधान कारण यह है, कि हमारे देशमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां ही श्रेष्ठ हैं।

स्रोतस्विनीका मुख लाल हो गया और वह हँस पड़ी।

दीप्तिने कहा—यह तुम्हारी अत्युक्ति है।

मैं समझ गया, कि दीप्ति चाहती हैं, कि इनका प्रतिवाद करके अपनी जातिकी प्रशंसा और भी सुनूँ। मैंने यह बात उन्हें खोलकर कह दी और यह भी कह दिया, कि स्त्रियाँ अपनी प्रशंसा सुनना बहुत पसन्द करती हैं। दीप्तिने जोरसे सिर हिलाकर कहा—कभी नहीं।

स्रोतस्विनीने मधुर स्वरसे कहा—बात ठीक है। अप्रिय बात हमें अत्यन्त कटु मालूम होती हैं तथा प्रिय बात अत्यन्त मधुर।

स्रोतस्विनी स्त्री होते हुए भी सच्ची बात मान लेनेमें कभी सङ्कोच नहीं करतीं।

मैंने कहा—इसका एक कारण है। ग्रन्थकारोंमें कवि और गुणियोंमें गायक स्तुति मिष्टान्नके विशेष आदी होते हैं। असल बात यह है, कि मनोहर बनाना जिनका काम है, प्रशंसा ही उनकी सफलताको मापनेका एकमात्र उपाय है। और सभी कार्य्य फलोंके अनेकों प्रमाण मिलते हैं; परन्तु स्तुतिलाभको छोड़कर मनोरञ्जनका दूसरा प्रमाण नहीं मिलता। इसीलिये गायक प्रत्येक ताल पर रुककर 'वाह वा' की प्रत्याशा करता है। इसलिये अनादरसे गुणीमात्रको ही रञ्ज होता है।

समीरने कहा—सिर्फ यही नहीं, निरुत्साह मनोहरण कार्य्यमें एक प्रधान प्रतिबन्ध है। श्रोताके मनको अग्रसर देखकर ही गायकका मन अपनी सारी शक्तिको प्रस्फुटित करनेका अवसर

पाता है। अतएव स्तुतिवाद सिर्फ उसका पुरस्कार ही नहीं है, उसके कार्य्य-साधनका प्रधान अंग है।

मैंने कहा—स्त्रीका भी प्रधान काम है, आनन्द दान करना। अपने समस्त अस्तित्वको संगीत और कविताकी नायीं सम्पूर्ण सौंदर्य्य बना डालने पर ही उसके जीवनका उद्देश्य सफल होता है। इसीलिये स्त्रियां स्तुतिवादसे प्रसन्न होती हैं। सिर्फ अपने अहंकारको परितृप्त करनेके लिये नहीं, बल्कि अपने जीवनकी सार्थकताको अनुभव करनेके लिये वे ऐसा करती हैं। भूल-चूक और असम्पूर्णता दिखाने पर एकबारगी उनके मर्मस्थानपर चोट पहुँचती है। इसलिये लोक-निन्दा स्त्रियोंके लिये बड़ी भयंकर बात होती है।

क्षितिने कहा—तुमने अपने कथनसे कवित्वका अच्छा परिचय दिया है। तुम्हारी बातें सुननेमें बहुत ही अच्छी लगी हैं, पर असल बात यह है, कि स्त्रियोंके कार्यका प्रसार बहुत ही संकीर्ण है। विशाल संसारक्षेत्रमें उनके लिये स्थान नहीं है। कार्य्यक्षेत्रमें उनका अस्तित्व भी अत्यन्त परिमित है। स्वामी, पुत्र, आत्मीय, स्वजन, पड़ोसी आदि लोगोंको सन्तुष्ट कर देनेमें ही उनके वर्त्तमान कर्त्तव्यकी इतिश्री हो जाती है। जिसके जीवनका कार्य्यक्षेत्र बहुत दूर देश और बहुत दूर समय तक फैला होता है, जिसके कार्योंका फलाफल सर्वदा शीघ्र दृष्टिगोचर नहीं होता, पासके लोगों और वर्त्तमान कालकी निन्दा स्तुतिका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुदूर आशा और-और बृहत् कल्पना अनादर, उपेक्षा निन्दाके भीतर भी उसको अविचलित रहनेकी शक्ति प्रदान करती है। लोक-निन्दा, लोकस्तुति, सौभाग्य-

गर्व और मान-अभिमानसे स्त्रियोंका मन बहुत विचलित हो जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि जीवनसे उनका नगदी लेन-देन रहता है। उसके समस्त कार्य्योंका लाभ-नुकसान वर्त्तमान कालमें ही पर्य्यवसित रहता है। हाथोंहाथ जो लाभ उन्हें प्राप्त होता है, वही उनके हाथ लगता है। इसीलिये वे दरदाम करके जहां तक पाती हैं, वसूल करनेमें बाज नहीं आतीं।

दीप्ति विरक्त होकर युरोप और अमेरिकाकी विश्व-हितैषिणी रमणियोंका दृष्टान्त ढूँढ़ने लगीं।

स्रोतस्विनीने कहा—वृहत्त्व और महत्त्वमें सब समय एकता नहीं होती। हम वृहत् क्षेत्रमें काम नहीं करती हैं, इसीलिये हमारे कार्य्योंका गौरव कम है, ऐसी बात स्वीकार करनेको मैं कभी तैयार नहीं हूं। मांशपेशी, स्नायु और अस्थिचर्म बहुत स्थान घेर लेते हैं, परन्तु मर्मस्थान बहुत ही क्षुद्र और गुप्त होता है। हम मानव-समाजके उसी मर्मकेन्द्र पर विराजती हैं। पुरुष-देव भैंसे, बैल आदि बलवान पशुओंकी सवारी पर विचरण करते हैं और रमणी-देवी हृदय-शतदल पर निवास करती है। वह एक विकसित ध्रुव-सौन्दर्य्यके मध्यमें अपनी परिपूर्ण महिमामें समासीन रहती हैं। संसारमें यदि पुनर्जन्म ग्रहण करूँ तो, प्रार्थना है कि स्त्री होकर ही जन्मूं—भिखारी न होकर अन्नपूर्णा होकर उतरूं। एक बार विचार कर देखो, समस्त मानस-संसारमें प्रतिदिन रोग-शोक, क्षुधा-श्रान्तिका कितना प्राबल्य है, प्रतिक्षण कर्म-चक्रसे उड़ उड़कर धूलकी ढेर लगती जाती है, प्रतिगृहका रक्षा-कार्य कितना कठिनसाध्य होता जाता है। यदि कोई प्रसन्नमूर्ति प्रफुल्लवदना धैर्यमयी, लोकवत्सला देवी प्रतिदिन सिरहाने बैठ कर रोगीके

उत्तप्त ललाटको अपने स्निग्ध-स्पर्शसे सींचती रहे, अपने कार्य्य-कुशल हस्तोंसे यदि प्रति मुहूर्त्त उसकी मलिनताको दूर करती रहे और प्रत्येक गृहमें जाकर अपने अविश्रान्त स्नेहसे कल्याण और शान्तिका विधान करती रहे, तो कौन कह सकता है, कि उसका कर्मक्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण है? यदि उस लक्ष्मीमूर्तिके आदर्शको हृदयमें उज्ज्वल कर रखें तो नारी-जीवनके प्रति अनादर दिखलानेका किसीको मुँह ही न रहेगा।

इसके बाद हम सभी कुछ देर तक चुप रहे। इस आकस्मिक निस्तब्धताके कारण स्रोतस्विनी अत्यन्त लज्जित होकर मुझसे बोलीं —तुम हमारे देशकी स्त्रियोंके बारेमें कुछ कहने जाते थे, पर बीचमें दूसरा प्रसंग आ जानेसे रुक गये। बात क्या थी?

मैंने कहा—मैं कहता था, कि हमारे देशकी स्त्रियां हम पुरुषोंसे बहुत श्रेष्ठ हैं।

क्षितिने कहा—इसका प्रमाण?

मैंने कहा—प्रमाण तो सामने ही है। प्रमाण घर-घरमें है—प्रमाण हमारे भीतर ही है। पश्चिममें भ्रमण करते समय बहुतसी ऐसी नदियां मिलती हैं, जिनका अधिक भाग शुष्क बालुकामय होता है। सिर्फ एक किनारे स्वच्छ जलका एक पतला सोता मंद वेगसे बहता है। वह दृश्य देखकर हमारा समाज स्मरण हो आता है। हमारा पुरुष-समाज अकर्मण्य, निष्फल, निश्चल बालूके ढेरकी तरह पड़ा रहता है और प्रत्येक समीर श्वाससे उड़-उड़कर आकाशमें लगता है और हम यदि कोई कीर्तिस्तम्भ निर्म्माण करनेकी चेष्टा करते हैं, तो वह बालूकी दीवारकी तरह ढह जाता है; और हमारी बाईं ओर स्त्री-जाति निम्नपथसे विनम्र सेविकाकी तरह अपनेको

संकुचित करके स्वच्छ सुधास्रोतके रूपमें प्रवाहित हो रही हैं। उन्हें एक क्षणका भी अवकाश नहीं है। उनकी चाल, उनका प्रेम और उनका सारा जीवन एक ध्रुव लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो रहा है। हमलोग लक्ष्यहीन ऐक्यहीन होनेके कारण सबके पैरों तले कुचले जाकर मिलनेमें समर्थ नहीं हो सकते। जिस ओर जलस्रोत है, उधर ही हमारी स्त्री जाती है, उधर ही समस्त सुषुमा, छाया और सफलताका भाण्डार खुला रहता है। जिस ओर हम हैं, उधर ही मरुभूमिकी शुष्कता, विशाल शून्यता और हीन दासवृत्ति है। क्यों, समीर, तुम्हारा क्या मत है?

समीर स्रोतस्विनी और दीप्तिकी ओर कटाक्ष करके हँसते हुए बोले—आजकी सभामें अपनी हीनता स्वीकार करनेमें दो बड़ी बाधाएँ वर्त्तमान हैं। मैं उनका उल्लेख करना नहीं चाहता। अखिल संसारमें भारतीय पुरुषोंको केवल अन्तःपुरमें ही आदर सम्मान मिलता है। वहाँ वे लोग केवल मालिक ही नहीं हैं, वरन् देवता माने जाते हैं। भाई साहब! हम लोगोंको क्या गरज पड़ी है, कि अपने उपासकोंसे प्रकट करने जायँ कि हम देवता नहीं हैं, सिर्फ तृण और मिट्टीके पुतले मात्र हैं? हमारा मुग्ध, विश्वासी भक्त अपने हृदय-कुञ्जके सभी खिले पुष्पोंको सोनेके थालमें सजा-कर हमारे चरणोंपर चढ़ानेके लिये आदरपूर्वक ले आता है, तो हम क्यों उसे लौटा दें? हमें देव-सिंहासन पर बैठाकर यह चिरव्रत धारिणी सेविका अपने निभृत नित्य प्रेमके निर्निमेष सन्ध्यादीपको लेकर हमारे इस गौरवहीन मुखके चारों ओर सहस्रों बार घुमा-घुमाकर आरती उतारनेमें असीम सुखका अनुभव करती है। यदि उसके सामने सिर ऊँचा करके हम बैठे न रहें, चुपचाप पूजा

न ले लिया करें, तो आनन्द कैसे मिलेगा और हमारा सम्मान ही कहाँ रह जायगा ? जब वह छोटी थी, तब मिट्टीके पुतलेसे ऐसे खेला करती थी—मानो वह कोई जीव हो। जब वह बड़ी हुई, तब वह मनुष्य-पुतलेसे इस प्रकार खेलने लगी—मानो वह कोई देवता हो। उस समय यदि कोई उसके पुतलेको तोड़ देता, तो क्या वह लड़की रो नहीं उठती ? उसी प्रकार यदि इस समय उसकी पूजनेकी मूर्त्तिको तोड़ दे, तो क्या उसके दिलमें चोट न लगेगी ? जहाँ मनुष्यत्व वास्तवमें गौरववान है, वहाँ सम्मान प्राप्त करनेके लिये उसे छद्मवेशकी आवश्यकता नहीं होती। जहाँ मनुष्यत्वका अभाव होता है, वहाँ देवत्वका ढोंग रचना पड़ता है। पृथ्वीपर कहीं भी जिसका अभाव नहीं, वह साधारण मनुष्य रूपसे स्त्रीसे सम्मानकी प्रत्याशा कैसे कर सकता है ? हमलोग एक-एक देवता हैं, इसलिये इन नारियोंके सुन्दर सुकुमार हृदयको निस्संकोच भावसे अपने कर्दमाक्त चरणोंका पादपीठ बनाये रखते हैं।

दीप्तिने कहा—जो यथार्थ मनुष्य है, वह मनुष्य होकर देवताका अर्घ्य लेते लज्जा अनुभव करता है और यदि पूजा पाता है, तो उस पूजाके योग्य होनेकी चेष्टा करता है। परन्तु भारतमें देखा जाता है कि पुरुष-सम्प्रदाय अपने मिथ्या देवत्वपर गर्वसे फूला नहीं समाता। उसकी योग्यता जितनी ही कम है, उसका आडम्बर उतना ही अधिक है। आजकलकी स्त्रियोंके पति माहात्म्य और पति-पूजाकी शिक्षा देनेके लिये जी-जानसे लग गये हैं। आजकल नैवेद्यका परिमाण घटता जाता है, इसलिये देवता-सम्प्रदायको आशंका हो गई है। पत्नियोंको पूजा करना सिखानेकी अपेक्षा पतियोंको देवता होनेकी शिक्षा देनेसे अधिक लाभ हो

सकता था। पति-पूजा घटती जाती है, इसलिये जो लोग आधुनिक स्त्री-समाजको हँसते हैं, उन्हें यदि लेशमात्र भी रसज्ञान होता तो वह हँसी लौटकर उन्हींको लगती। धन्य भाग्य है भारतीय रमणियोंका—कि उन्होंने अपने पूर्व जन्मके पुण्यसे ऐसे देवता पाये हैं! क्या ही सुन्दर देवताका रूप है! क्या ही अपूर्व देवताकी महिमा है!

स्रोतस्विनीके लिये अब सहना बिल्कुल कठिन हो गया। उन्होंने सिर हिलाकर गम्भीर भावसे कहा—तुम लोग उत्तरोत्तर सुर इतना चढ़ाते जाते हो कि हमारे स्तुतिपानमें जो कुछ मधुरता थी, वह नष्ट हो जाती है। मान लिया कि तुम्हारे कहनेके अनुसार हम पुरुषोंको जितना सम्मान देती हैं, उतने सम्मानके योग्य वे नहीं हैं, पर तुमलोग हमें हदसे ज्यादे बढ़ा नहीं रहे हो? तुम यदि देवता नहीं हो, तो हमलोग भी देवी नहीं हैं। हमारे दोनों ही दल यदि समझौता करके देवता और देवी बन जाँय, तो झगड़ा ही न रह जाय। इसके अलावा हममें तो सभी गुण नहीं हैं—हृदय-महात्म्य में यदि हम बड़ी हैं, तो मनो-महात्म्यमें तुम्हारा ही स्थान ऊँचा है।

मैंने कहा—मधुर कण्ठ स्वरसे ये स्निग्ध बातें कहकर तुमने बहुत अच्छा किया है, नहीं तो दीप्तिके वाक्यवाणकी वर्षाके बाद सच्ची बात कहना कठिन हो जाता। देवि! तुम सिर्फ कविताके भीतर ही देवी हो, मन्दिरमें हम ही देवता हैं। देवताका जो कुछ भोग है, वह हमारा ही है। तुम्हारे लिये तो सिर्फ मनुसंहिताके दो या अढ़ाई मन्त्र हैं। तुम हमारी ऐसी ही देवी हो कि यदि हम तुम्हें सुख-सम्पद और स्वास्थ्यकी अधिकारिणी कहें, तो हमें लज्जित होना पड़े। समस्त पृथ्वी हमारी है, इसके अलावा जो कुछ है, वह

तुम्हारा है। खानेके समय हम हैं, जूठन चुगनेके समय तुम हो। प्रकृतिकी शोभा, खुली हवा, स्वास्थ्यकर भ्रमण हमारा है और दुर्लभ मानव-जन्म ग्रहण करके सिर्फ घरके एक कोनेमें रोग-शय्या या खिड़कीका सहारा तुम्हारे हिस्सेमें है। हम देवता होकर सभीसे पैर पुजवाते हैं और तुम देवी होकर सभीके पैरोंकी ठोकरें सहती हो। ध्यान देकर देखनेपर इन दोनों प्रकारके देवताओंमें अन्तर दीख पड़ता है। ये तो हुईं देव-देवीकी बातें। मेरी समझमें बुद्धिके विषयमें भारतीय स्त्रियाँ पुरुषोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। हमारे देशमें शिक्षित स्त्रियाँ शिक्षित पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक योग्य होती हैं, यही मेरी धारणा है। हमारे शिक्षित पुरुष-समाजमें एक ऐसा मूढ़ अहंकार होता है, जिससे वे समझ नहीं सकते कि उनका व्यवहार रूढ़, निर्दय होता है। पड़ी हुई मोरकी पंख अपने डैनोंमें लगाकर कौवा जैसे मोर बननेके लिये व्यर्थ आस्फालन करनेमें लज्जित नहीं होता, वैसे ही शिक्षित पुरुष अपनी वास्तविकताको नष्टकर वृथा अभिमानमें अकड़-अकड़ कर चलनेमें लज्जा अनुभव नहीं करता। परन्तु हमारी शिक्षित स्त्रियाँ सहज ही कितने सुचारु रूपसे अपनी मर्यादा-रक्षा कर लेती हैं और संयम तथा सुन्दरता-पूर्वक सभी ज्यादतियोंका त्यागकर देती हैं।

समीरने कहा—देखो न, आजकल प्रायः देखने में आता है कि स्वामी कोट-पतलून लगाकर बाहर निकलते हैं और स्त्री साड़ी पहने साथ रहती है। एक महापुरुष विदेशी परिच्छदकी बड़ाई करते फिरते हैं और एक अपने देशके परिच्छदमें कितने संयम और विनम्रतासे विराज रही हैं। सिर्फ सज-धजमें ही नहीं, दोनों के मनोभावोंमें भी ऐसे ही पार्थक्य विद्यमान हैं। एक अपनी नई

शिक्षाको पाकर धरतीपर पर नहीं रखता। ठीक नहीं कर सकता कि क्या करूँ, उसकी अक्ल हवा खाने चली जाती है, अहंकार उसे अंधा बना देता है और दूसरी अपनी शिक्षाको अपना भूषण बना लेनेमें समर्थ हो जाती है। वे अपनी शिक्षाको अपने कर्त्तव्यके साथ, अपने हृदयके साथ और अपने चारों ओरकी चीजोंके साथ मिला देती हैं। पुरुष जहां अकड़कर चलता हुआ, साहेबी ढंगसे बेपरवाही दिखलाकर, दूसरेपर प्रभुत्व जमाना चाहता है, वहां स्त्री कोमल मधुर भावसे पड़ोसके लोगोंसे मेल-जोल बढ़ानेकी चेष्टा करती है।

यह पार्थक्य केवल स्त्री-चरित्रकी स्वाभाविक कोमलताके कारण है, सो नहीं, हमारी स्त्रियोंके भीतर एक प्राकृतिक सुबुद्धि और सद्विवेचना है। भारतीय साहित्यमें स्त्री-चरित्रकी प्रधानता है, इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीय समाजमें स्त्रियोंकी ही प्रधानता है।

मैंने कहा—इसका कारण यह है कि भारतमें पुरुषोंको कोई काम ही नहीं है। इस देशमें गार्हस्थ्यको छोड़ दूसरा कुछ है ही नहीं। इस घरकंजको स्त्रियाँ ही सम्भालती हैं। हमारे घरके लाभ-नुकसानका बोझ उन्हींके मत्थे रहता है। हमारी स्त्रियां सर्वदासे ही इस बोझको ढोती आती हैं। एक छोटा-सा चमकता हुआ स्टीमर जैसे भारी बोझसे लदी हुई चलच्छक्तिहीन बोटको प्रवाह की ओर खींच ले जाता है, वैसे ही हमारे देशकी स्त्रियां लौकिक आचार-व्यवहार आत्मीय-स्वजनोंसे भरे हुए वृहत् संसार और अपने स्वामी नामक एक चलच्छक्तिरहित अनावश्यक बोझको खींचे लिये जा रही हैं। दूसरे देशमें पुरुष-सन्धि, विग्रह, राज्य

चलाना इत्यादि बड़े-बड़े पुरुपोचित कामोंमें बहुत दिनसे लगे रहकर नारियोंसे स्वतन्त्र एक दूसरी ही प्रकृति गढ़ लेते हैं। हमारे देशके पति गृहपालित, मातृलालित और पत्नीचालित हैं। किसी बृहत् भाव, बृहत् कार्य, बृहत् क्षेत्रके भीतर उनके जीवनका विकास नहीं हुआ है, तथापि पराधीनताका अत्याचार, दासत्वकी हीनता और दुर्बलताकी लाञ्छना उन्हें सिर झुकाकर सहनी पड़ती हैं। उन्हें पुरुपोचित कोई कर्त्तव्य नहीं करना पड़ता, बल्कि कापुरुषताके सभी अपमान सहने पड़ते हैं। सौभाग्यकी बात है कि स्त्रियोंको बाहर जाकर कभी कर्त्तव्यकी खोज नहीं करनी पड़ती, पेड़की डाल से गिरे हुए फूल-फलकी तरह कर्त्तव्य उसके हाथमें अपने-आप आ जाता है। वह ज्योंही प्यार करना आरम्भ करती है, त्योंही उसके कर्त्तव्यका आरम्भ हो जाता है, त्योंही उसकी चिन्ता, विचारयुक्ति कार्य आदिकी सारी वृत्तियां जाग उठती हैं। उसका सम्पूर्ण शरीर उद्भिन्न हो जाता है। बाहरका कोई राष्ट्र विप्लव उसके कार्यमें बाधा नहीं दे सकता। उसकी गरिमाका ह्रास नहीं कर सकता। जातीय अधीनताके भीतर भी उसका तेज सुरक्षित रहता है।

स्रोतस्विनीकी ओर घूमकर फिर मैंने कहा—हमलोग एक नवीन शिक्षा और विदेशी इतिहाससे पुरुषत्वका एक नवीन आदर्श ग्रहण करके बाहर कर्म-क्षेत्रकी ओर अग्रसर होना चाहते हैं। परन्तु भीगा काठ जलता नहीं, मुर्चा लगा रुपया चलता नहीं। वह जितना जलता है, उससे अधिक धुआँ देता है; वह जितना चलता है, उससे अधिक बजता है। आज तुम्हारी उज्ज्वलता, तुम्हारे रहन-सहन—चाल-चलनको देखकर हम लज्जित हो रहे हैं। हम-

लोग दिन-रात बे-काम-धन्धेके बैठे रहकर झगड़ा-तकरार, काना-फूँसी, हँसी-ठट्ठा करते रहे हैं और तुमलोग सर्वदा अपने काममें लगी रही हो। इसलिये जितनी सरलतासे, शीघ्रतासे तुम लोग शिक्षा ग्रहण कर सकती हो—उसपर अपना दखल जमा सकती हो, उसको अपनी जीवन-धारामें प्रवाहित कर सकती हो; हमलोग उतनी सरलता और शीघ्रतासे कभी नहीं प्राप्त कर सकते। इसका एक कारण है। चरित्र नामकी तुम्हारे पास एक वस्तु है—एक पात्र है। अपनी चीज न रहनेसे दूसरे की चीज नहीं मिलती और मिलनेपर भी हम उसे अपना नहीं सकते हैं। इसलिये हमारी शिक्षित स्त्रियोंके अनुरूप शिक्षित पुरुष नहीं मिलते। अतएव इस समय हमारा भार तुम्हीं लोगोंको उठाना पड़ेगा। हमें कर्ममें प्रवृत्त करना होगा, हमारे वाह्याडम्बरको दूरकर हमारी ज्यादतीको घटाना होगा, हमारे मिथ्या अहंकारको चूर्ण करना होगा, हमारे विश्वास को सजीव रखना होगा और चारों ओरके देशकाल के साथ हमारा सामञ्जस्य रखना होगा। एक शब्दमें, हमारे भारपूर्ण अचल नौकेका पतवार अब भी तुम्हें ही पकड़ना पड़ेगा। वाक्यवायुका पाल उठाना हमने थोड़ा-थोड़ा सीखा है, इसलिये तुम यह न समझना, कि हम चतुर नाविक हो गये हैं। अब भी हमें आत्मशक्ति, आत्मसम्मान और एक नियमित तेजोराशिकी आवश्यकता है। गलेमें साहबोंकी नकटाई और पीठपर थप्पड़ हमारे लिये सम्मानजनक नहीं है। यदि तुम लोग कभी मीठी पुचकार कभी कड़ी झिड़कनके साथ यह सीख न दोगी, तो हम किसी कामके न रहेंगे। यदि इस पालित पशुके गलेकी चमकती हुई जंजीरको काट न दोगी और उसके लम्बे-लम्बे कानों को पकड़कर उनमें यह

मन्त्र न फूंक दोगी, कि खाद्य व्यञ्जन जैसे खानेके लिये ही पवित्र हैं पर सिर और ललाटपर लपेट कर धनवान बननेमें वह अपवित्र हो जाता है, वैसे ही शिक्षा मुख-हाथमें लपेट लेनेके लिये नहीं हैं, पर उसे पकाकर उससे मनको उन्नत बनाना चाहिये—उसका सदु-पयोग करना चाहिये।

स्रोतस्विनी बहुत देर तक चुप्पी साधे रही। फिर धीरे-धीरे बोलीं—यदि मैं समझती,कि हमें क्या करना है और किस उपायसे कौन काम किया जा सकता है,तो कमसे कम चेष्टा करके तो देखती।

मैंने कहा—अब तुम्हें कुछ भी करना नहीं होगा, तुम जैसे हो वैसे ही पड़ी रहो। लोग देख लें, कि सत्य, सरलता और श्री यदि रूप धरकर आवें, तो वह कैसी सुन्दर हो सकती हैं। जिस घरमें लक्ष्मी है, वहां विश्रृङ्खला, कुरूपता स्थान नहीं पाती। आज कल हम जो कोई काम करते हैं, उसमें लक्ष्मीका हाथ नहीं रहता। इसलिये उसमें इतनी विश्रृङ्खलता,—इतनी ज्यादती रहती है। तुम्हारा शिक्षित स्त्रियोंका दल यदि अपने हृदयके सौन्दर्य्यको लेकर हमारे समाजके असंयत कार्य्यस्तूपके बीच आ खड़ा हो जाय, तो इस (कार्य्यराशि) में लक्ष्मीकी स्थापना हो सके—सहज ही हमारा जीवन सुन्दर, नियमित, श्रृङ्खलाबद्ध और सामञ्जस्यपूर्ण हो जाय।

स्रोतस्विनी और कुछ न बोलीं। अपनी कृतज्ञता पूर्ण स्नेह-दृष्टिसे हमारा ललाट स्पर्श करके अपने घरके काममें लग गयीं।

तीसरी बैठक

मैं इस समय बंगालके जिस विभागमें रहता हूं, उसके आस-पास कहीं थाना-पुलिस या हाकिमोंकी कचहरी नहीं है। रेलवे स्टेशन भी कुछ दूरी पर है। जो नागरिक-संसार खरीद-बिक्री मामला-मुकद्दमा और आत्मगौरवका प्रचार करता है, उसके साथ सम्बन्ध रखने वाली ऐसी कोई संस्था वहां नहीं है, जिसके जरिये उस गाँवके साथ भावका आदान प्रदान किया जा सके। सिर्फ एक छोटी-सी नदी उस गाँवसे होकर बहती है। ऐसा प्रतीत होता है, कि वह नदी भी उन ग्रामवासियोंके लड़के-बालोंमेंसे एक है। यह उन्हींकी खास सम्पत्ति हो गई है। दूसरी किसी बड़ी नदी, सुदूर सागर अथवा किसी अपरिचित ग्राम-नगरके साथ इस नदीका सम्बन्ध—गमनागमनका पथ है, यह बात उस गाँवके लोग जानते ही नहीं। इसलिये एक अत्यन्त मधुर आदरका नाम देकर इन्होंने इसे बिलकुल अपना लिया है।

भादोंका महीना है। चारों ओर जल-ही-जल दिखायी पड़ता है। सिर्फ धानके खेतोंकी मेडें कुछ-कुछ सिर उठाये खड़ी हैं। बहुत दूरीपर वृक्षोंकी ओटमें एक गांव ऊँची जमीन पर द्वीपकी तरह दीख पड़ता है।

यहांके लोगोंका स्वभाव इतना कोमल, भक्तिभाव पूर्ण और सरल विश्वास परायण हैं कि, मालूम होता है, आदम और ईवके ज्ञान वृक्षका फल खानेके पहले ही ब्रह्माने इन ग्रामवासियोंके पूर्व पुरुषोंको जन्म दिया था। इसीलिये यदि मूर्त्तिमान शैतान भी

इनके घरमें प्रवेश करता है, तो ये लोग बालकोंकी तरह विश्वास कर लेते हैं और अतिथिके योग्य आदर-सम्मानसे तृप्त करते हैं।

इस प्रकारके लोगोंके स्नेहपूर्ण हृदय-आश्रममें जिस समय मैं निवास करता था, ऐसे ही समय पंचभूत सभाके किसी सभ्यने मेरे पास कुछ समाचार पत्रके टुकड़े काट कर भेज दिये। पृथ्वी घूम रही है, इस बातको स्मरण कर देना उनका उद्देश्य था। उन्होंने लंडन और पेरिसके कई एक समाचारोंकी बातें इकट्ठी कर डाक द्वारा इस जलमग्न श्यामल धान्य-क्षेत्रोंके बीच भेज दी थीं।

उन्होंने एक तरहसे अच्छा ही किया था। कागजोंको पढ़कर मेरे मनमें अनेकों बातें उठीं, जो कलकत्ता रहने पर अच्छी तरह समझमें न आ सकती थीं।

मैं सोचने लगा—आजकलके इन अपढ़ मूर्ख किसानों को सिद्धान्ततः हम चाहे कितना ही असभ्य, बर्बर, नीच समझकर घृणा करें पर निकट आकर कार्य्यरूपमें उन्हें अपना समझ प्यार करने लग जाते हैं। मैंने देखा, कि मेरा अन्तःकरण चुपके चुपके इनके प्रति श्रद्धा प्रकट करता है।

परन्तु लण्डन, पैरिसकी तुलनामें ये लोग कहां जा लगते हैं? कहाँ वह शिल्प? वह साहित्य? वह समाज और वह राजनीति और कहां इनका मोहान्धकार। देशके लिये प्राण देनेकी बात तो दूर रही, ये लोग यह भी नहीं जानते कि देश कहते किसे हैं? इन बातों पर अच्छी तरह विचार करने पर भी मेरे मनके भीतर एक दैव-वाणी सुन पड़ने लगी—तथापि ये बुद्धि-

हीन सरल स्वभाववाले मनुष्य सिर्फ प्रेमके ही पात्र नहीं हैं, श्रद्धाके योग्य भी हैं।

मैं इन्हें श्रद्धा क्यों करता हूँ, यही बात मैं सोचने लगा। देखा कि इनके भीतर, जो एक सरल विश्वासका भाव है, वह अत्यन्त मूल्यवान है। यहाँ तक कि वही मनुष्यकी चिरसाधनाकी सम्पत्ति है। यदि मनके भीतरकी बात खोलकर कहनी पड़े, तो मैं स्वीकार करूँगा कि मेरी समझमें उसकी अपेक्षा मनोहर वस्तु कोई भी नहीं है।

इस सरलताके नष्ट होते ही सभ्यताका सारा सौन्दर्य मिट्टीमें मिल जायगा। क्योंकि इसके बिना स्वास्थ्य ही नष्ट हो जायगा। सरलता ही मनुष्य प्रकृतिका स्वास्थ्य है।

जितना भोजन किया जाता है, वह अच्छी तरह पचने पर ही स्वास्थ्य अच्छा रहता है। मसालेदार, घृतपक्व, सुस्वादु, चर्व्य-चोष्य-लेह्य पदार्थको ही स्वास्थ्य नहीं कहते।

सभी ज्ञान और विश्वासको सम्पूर्ण रूपसे पचाकर स्वभावके साथ मिला लेनेकी अवस्थाको ही हृदयकी सरलता—मनका स्वास्थ्य कहते हैं। नाना प्रकारके ज्ञान और विचारोंको मनका स्वास्थ्य नहीं कहते।

आज कलके ये मूर्ख गँवार लोग जिन ज्ञान और विश्वासोंको लेकर अपनी जीवन-यात्रा निर्वाह करते हैं, वे सभी इनकी प्रकृतिके साथ मिल गये हैं। जैसे निःश्वासका चलना और खूनका दौड़ना हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं रहता, वैसे ही इन सब बातोंकी खबर रखना उनका काम नहीं। वे लोग उतना ही जानते और विश्वास करते हैं जो अत्यन्त सरलतासे वे जान सकते हैं। अथवा

विश्वास कर सकते हैं। इसलिये उनके ज्ञान—उनके विश्वास और उनके कामके बीच एक घनिष्ट सामञ्जस्य उत्पन्न हो गया है।

एक उदाहरण देता हूं। अतिथिके घर आने पर वे लोग कभी लौटाते नहीं। आन्तरिक भक्तिके साथ, पवित्र हृदयसे, वे उसकी सेवा करते हैं। इसीलिये वे किसी हानिको हानि और कष्टको कष्ट नहीं समझते। मैं भी किसी अँशमें आतिथ्यको धर्म समझता हूं, परन्तु वह भी ज्ञानकी दृष्टिसे समझता हूं, विश्वासकी दृष्टिसे नहीं। अतिथिको देखते ही हमारे चित्तकी समस्त वृत्तियाँ तुरत आतिथ्यकी ओर दौड़ नहीं जाती हैं। मनमें नाना तरहके तर्क और विचार उठते हैं। इस विषयमें किसी विश्वासके साथ हमारे मनका सामञ्जस्य नहीं होता।

किन्तु मानव-स्वभावके विभिन्न अंशोंके भीतर एक अविच्छेद्य एकताका होना ही मनुष्यत्वका चरम लक्ष्य है। छोटे-छोटे मकड़ों-को देखा जाता है, कि उनके अंग प्रत्यङ्गोंको टुकड़े-टुकड़े कर काटने पर भी उनमें जान रहती है, उनका कुछ नुकसान नहीं होता। परन्तु जैसे-जैसे इन जीवोंकी उन्नति होती जाती है, वैसे-वैसे इनके अंग प्रत्यङ्गोंकी अधिकाधिक एकता होती जाती है।

मानव-स्वभावके भीतर भी ज्ञान, विश्वास और कार्य्यमें विच्छिन्नताका होना उन्नतिका अत्यन्त निम्न सोपान है। तीनोंका अविच्छिन्न सम्बन्ध मनुष्यकी चरम उन्नति है।

परन्तु जिस जगह ज्ञान-विश्वास और कार्य्यमें विभिन्नता और विच्छिन्नता नहीं होती, वहां बहुत जल्दी ही मेल हो जाता है। फूलके

लिये सुन्दर हो जाना जितना सहज है, जीवधारियोंके लिये उतना सहज नहीं। जीवधारियोंके विभिन्न, विचित्र कार्योपयोगी अंग-प्रत्यंगोंमें सम्पूर्ण संयोगका होना अत्यन्त कठिन है। जन्तुओंकी अपेक्षा मनुष्योंके भीतर इसकी सम्पूर्णता और भी दुर्लभ है। मानसिक प्रकृतिमें भी यही बात लागू है।

हमारे इस छोटेसे गाँवके किसानोंकी प्रकृतिमें जो एकता देखनेमें आती है, उसमें महत्ता, जटिलता आदि कुछ भी नहीं है।

सीधे सादे खेतिहरोंको साधारण दो एक अभावोंको दूरकर जीवन धारण करनेके लिये अधिक ज्ञान-विज्ञान और समाज-तत्त्वकी आवश्यकता नहीं होती। जिन कई एक आदिम कालकी परिवार-नीति, ग्राम्य-नीति और प्रजा-नीतिकी आवश्यकता पड़ती है, वे बहुत सहज ही मनुष्यके जीवनके साथ मिलकर अखण्ड और अभिन्न हो जाती हैं।

तथापि क्षुद्र होते हुए भी इनके भीतर एक ऐसी सुन्दरता है, जो चित्तको आकर्षित किये विना रह नहीं सकती और वही सुन्दरता अशिक्षित क्षुद्र कामके भीतरसे पद्मकी तरह विकसित होकर समस्त गर्वित सभ्य समाजको एक आदर्श दिखला देती है। इसीलिये लंडन, पैरिसकी सभ्यताका भयंकर कोलाहल संवादपत्रों द्वारा कानमें पहुँचनेपर भी हृदयपर आज मेरे गाँवका ही आधिपत्य रहा।

नाना चिन्ताओंसे घिरे हुए मेरे चित्तमें यह गाँव तानपुरेके मधुर शब्दकी तरह नित्य नया आदर्श खड़ा किया करता है। वह कहता है, मैं विशाल विस्मयजनक नहीं हूँ, यह ठीक है; परन्तु मैं छोटा होते हुए भी सम्पूर्ण हूँ, इसलिये अन्य सभी अभावोंके होते

हुए भी मुझमें एक विशेष मधुरता है, यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी। मैं छोटा होनेके कारण तुच्छ भले ही समझा जाऊँ, परन्तु सम्पूर्ण होनेके कारण सुन्दर हूँ और यही सुन्दरता तुम्हारा आदर्श है।

बहुत लोग मेरी बात सुनकर हँसे बिना न रहेंगे, तो भी मैं कहूँगा, कि मूर्ख किसानोंके कान्ति-हीन चेहरेपर मैं एक रमणी सुलभ सौन्दर्य्यका अनुभव करता हूँ। मैं स्वयं आश्चर्य्यान्वित हो गया हूँ और सोचता हूँ, कि यह सौन्दर्य्य कहाँसे आया। मेरे मनमें उसका एक उत्तर भी सूझा है।

जिसकी प्रकृति किसी विशेष भावको स्थायी रूपसे ग्रहण कर लेती है, उसके मुखपर वह भाव क्रमशः एक स्थायी कान्ति अंकित कर देता है।

ये ग्रामबासी जन्मसे ही कई एक भावोंकी ओर स्थिर दृष्टिसे लक्ष्य कर रहे हैं। इसलिये इन भावोंने इनकी दृष्टिमें अपनेको अंकित कर देनेका बहुत अच्छा अवसर पाया है। इस कारण इनकी दृष्टिसे एक सकरुण मधुरता टपकती है; इनका मुख एक निर्भर, परायण-वत्सल भावसे सर्वदा उद्भासित रहता है।

जो लोग सभी धर्म-विश्वासोंपर ही आशंका करते हैं और भिन्न-भिन्न प्रतिकूल विचारोंको जाँचकर देखते हैं, उनके चेहरेपर बुद्धिकी एक तीक्ष्णता और अनुसन्धित्साका कौशल झलकता है, परन्तु भावके गम्भीर स्निग्ध सौन्दर्य्यसे वह बिलकुल भिन्न है।

मैं जिस नदीमें नौका ले गया था, उसमें जलका प्रवाह बिल्कुल ही न था। इस कारण उसमें कमल, सेवार, कुमुदिनी आदि नाना प्रकारके फूल खिले हुए थे। इस साधारण सत्यपर विचार करने

पर मैं इस सिद्धान्त पर पहुँचा, कि जब हमारी भाव-धारामें स्थिरता नहीं रहती, बल्कि हमारी चिन्ता-धारा तीव्र वेगसे बहती ही जाती है, तब उसमें नाना प्रकारके सौन्दर्य्य-कुमुद विकसित होनेका अवसर नहीं पाते।

प्राचीन युरोपकी तुलनामें नव्य अमेरिकामें सबसे अधिक इस भावकी कमी पायी जाती है। अमेरिकामें उज्ज्वलता, चञ्चलता, कठिनता आदि सभी बातें मिलती हैं, पर भावकी गम्भीरता नहीं मिलती। वह हदसे ज्यादे नया है। भावको विकसित करनेका उसे अवसर ही नहीं मिला है। अभी वह सभ्यता मनुष्यके साथ मिलकर, उसके हृदयसे अपनेको अनुरञ्जित नहीं कर सकी है। मैं कह नहीं सकता, कि यह बात सच है या झूठ, परन्तु सुनता तो ऐसा ही हूँ। और अमेरिकाके वास्तविक साहित्यकी विरलताको देखकर मेरा अनुमान भी यही है। प्राचीन युरोपके कोने-कोनेमें अनेकों पुराने भाव अंकुरित होकर विचित्र सुषुमासे उसे सुशोभित कर रखते हैं। अमेरिकामें वह सुषुमा नहीं है। बहुस्मृति, जन-प्रवाद, विश्वास और संस्कारके द्वारा अब भी वहाँके मानव जीवनमें माधुर्य्य, लावण्यका अंकुर नहीं उगा है।

हमारे इन किसानोंके हृदयमें अन्तेराकृतिका यह अंकुर उग गया है। सरलता की यह पुरानी सुषुमा सबको दिखलानेके लिये वे बहुत ही उत्कण्ठित हो रहे हैं। किन्तु वह सुषुमा इतनी कोमल है, कि मैं उसे व्यक्त नहीं कर सकता। यदि कोई कहे, मैंने इस सुषुमाको नहीं देखा और यदि कोई उसकी हँसी उड़ाये तो मैं लाचार हूँ।

मैं इन समाचार पत्रोंके टुकड़ोंको पढ़ता था और सोचता था,

कि बाईबिलमें लिखा है, कि जो लोग नम्र होते हैं, पृथ्वीपर उन्हींका आधिपत्य रहता है। यहां तो मैं जितनी नम्रता देखता हूँ, उससे स्वर्गका अधिकार प्राप्त होना भी सम्भव है। पृथ्वीपर सौन्दर्य्य जसी कोई दूसरी वस्तु नम्र नहीं है। जो बल-प्रयोग करके कोई कार्य्य सिद्ध करना नहीं चाहता, भविष्यमें संसार पर उसीका प्रभुत्व होता है। आज यह ग्रामवासिनी सुन्दरी सरलता नगर-वासिनी नयी सभ्यताके एक बालकका मन चुपकेसे हरण करती है, एक समय आवेगा जब वह समस्त सभ्यताकी रानी हो बैठेगी। हो सकता है, कि इसमें अभी देर हो, परन्तु अन्तमें यदि सभ्यता सरलताके साथ सम्मिलित न हो जाय, तो वह अपनी पूर्णताके आदर्शसे गिर जायगी।

हम पहले ही कह चुके हैं, कि स्थायित्वके ऊपर भाव-सौन्दर्य्य निर्भर रहता है। प्राचीन स्मृतिमें जो एक प्रकारकी सुषुमा देखी जाती है, उसका कारण अप्राप्यता नहीं है। हृदय बहुत दिन तक उस पर निवास करने पाता है, इसलिये सहस्रों कल्पना-सूत्रोंको फैलाकर, उसको अपनेमें मिला लेता है, इस कारण उसकी मधुरता बढ़ जाती है। पुराने घरों और पुराने देव-मन्दिरोंकी सुन्दरताका प्रधान कारण यह है, कि बहुत दिन तक स्थायी रहनेके कारण वह मनुष्यके साथ बहुत मिल गये हैं। विश्रामहीन मानव-हृदयके संश्रवसे, उनके सर्वाङ्गमें, चेतनाका संचार हो गया है। समाजके सभी प्रकारके विच्छेदोंको मिटा कर वे समाजका एक अंग हो गये हैं। यह एकता ही उनका सौन्दर्य है। मानव-समाजमें स्त्री-जाति ही सबसे पुरानी है। पुरुष विविध कार्य्यों, विविध अव-स्थाओं और विविध परिवर्त्तनोंके भीतरसे, चंचल भावसे, बहता

हुआ आ रहा है और स्त्रियां स्थायी भावसे सिर्फ जननी और पत्नी रूपसे विराजती हैं, कोई आन्दोलन और विप्लव उन्हें विचलित नहीं कर सकता। इसलिये समाजके हृदयमें स्त्री इतनी जल्दी और इतने कौशलसे प्रवेश करनेमें समर्थ हुई है। यही नहीं, समाजके भाव, कार्य्य और शक्तिके साथ वह इतने सुचारु रूपसे एक हो गयी है कि यह दुर्लभ सर्वाङ्गीन एकता प्राप्त करनेके लिये उसे पर्य्याप्त समय मिलता था।

इसी प्रकार जब दीर्घकालके स्थायित्वका आश्रय कर तर्क, युक्ति, ज्ञान क्रमसे संस्कार और विश्वासके रूपमें परिणत होते हैं, तभी उसका सौन्दर्य्य विकसित होता है। तब वे अड़ कर खड़े हो जाते हैं। उसके भीतर जो असंख्य जीवाणु वर्त्तमान रहते हैं, वे मनुष्यके बहुत दिनके आनन्द-आलोक और आंसुओंकी वर्षासे अंकुरित होकर उसे ढक लेते हैं॥

यूरोपमें आजकल जो एक नवीन सभ्यताका युग आया है, उसमें क्रमागत नये-नये विज्ञान, नये-नये विचार आविष्कृत होते जा रहे हैं। यन्त्र, तन्त्र और औजारोंका ढेर लगता जा रहा है, उन्हें रखनेको जगह तक नहीं मिलती। अविरत चञ्चलताके कारण इस सभ्यतामें प्राचीनता आने नहीं पाती।

परन्तु देखता हूँ कि इतनी बड़ी धूमधामके भीतर भी मानव-हृदय हर वक्त रोया ही करता है। यूरोपके साहित्यसे सहज सरल आनन्द और शान्तिके गीत एकदम निकाल-बाहर कर दिये गये हैं। सिर्फ निराशाका विलाप, प्रमोदकी मादकता और विद्रोहका अट्टहास देखनेमें आता है।

इसका कारण यह है, कि जब तक मानव-हृदय इस विशाल

सभ्यताके स्तूपमें एक सुन्दर एकताका स्थापन नहीं कर सकता, तबतक आनन्द पूर्वक वह अपनी गृहस्थीको नहीं चला सकता, तब तक वह अस्थिर और अशान्त होकर भटकता फिरता रहेगा। सभी चीजें जड़ रूपमें परिणत हो गयी हैं, सिर्फ सौन्दर्य अब भी स्थिर है। अब भी नवीन सभ्यताकी राजलक्ष्मी आकर खड़ी नहीं होने पायी है। ज्ञान, विश्वास और कार्य्य परस्पर एक-दूसरेको बराबर सता रहे हैं—एकता प्राप्त करनेके लिये नहीं, वरन् विजय प्राप्त करनेके लिये उनमें लड़ाई छिड़ गई है।

केवल प्राचीन स्मृतिमें ही सौन्दर्य्य है, सो बात नहीं, नवीन आशामें भी सौंदर्य है। किन्तु दुर्भाग्यकी बात है, कि यूरोपकी नवीन सभ्यतामें अब भी आशाका संचार नहीं हुआ है। वृद्ध यूरोपने कितनी बार कितनी ही आशायें की हैं। जिन उपायों पर उसे पूरा भरोसा था, वे सभी एक-एक करके निष्फल हो गये हैं। बहुत लोग फरासी विप्लवको एक बड़ी चेष्टाका व्यर्थ परिणाम समझते हैं। एक बार सबने समझा था, कि आराजन साधारणको वोट देनेका अधिकार देनेसे ही संसारके अधिक अनर्थ दूर होंगे। इस समय सभी लोग वोट देते हैं, पर अधिकांश अमंगल विदा करनेके लिये कोई उत्सुकता नहीं प्रकट करता। सभी लोगोंने समझा था, कि स्टेटके द्वारा मनुष्यके सभी दुःख दूर हो जायँगे। इस समय पण्डितगण आशंका करते हैं, कि स्टेटके द्वारा संकट-मोचन करनेकी चेष्टा करनेसे लाभके बदले हानि ही की अधिक संभावना है। कोयलेकी खान, कपड़ेकी कल और विज्ञान शास्त्रके ऊपर किसी-किसीका विश्वास होता है, पर उस परसे भी सन्देह नहीं मिटता। अनेक बड़े-बड़े लोग कहते हैं, कलों द्वारा

मनुष्योंमें पूर्णता नहीं आती। आधुनिक यूरोप कहता है—उस पर आशा न रखो, विश्वास न करो। सिर्फ एक बार परीक्षा कर लो।

नवीन सभ्यताने मानों एक बूढ़ेसे ब्याह किया। उस बूढ़े पतिके पास धन-सम्पत्ति है,परन्तु यौवन नहीं। वह अपनी हजारों जानकारियोंसे पुराना हो गया है। दोनोंमें अच्छी तरह प्रेम नहीं जमता, घरमें सदा केवल अशान्ति रहती है।

इन्हीं बातोंकी आलोचना करता हुआ, मैं इस क्षुद्र गाँवकी सम्पूर्णताका सौन्दर्य्य दुगुने आनन्दसे उपभोग कर रहा हूं।

तथापि मैं इतना अन्धा नहीं, कि यूरोपीय सभ्यताकी मर्य्यादा न समझूं। एकताका पूर्ण आदर्श है—दो विभिन्न वस्तुओंको मिलाकर एक कर देना, दो विभिन्न विशिष्ट विचारोंको एक रंगमें ढालकर सुशोभित कर देना। अतः विचित्रतामें भी ऐक्य ही सौन्दर्य है, इससे एकताका सौन्दर्य्य और पूर्णताकी वृद्धि होती है। आजकल यूरोपमें प्रभेद-विभिन्नताका युग आया है। इसलिये विच्छेद वैषम्यकी इतनी अधिकता है। जब एकताका युग आवेगा, तब इस बड़े ढेरमें बहुत कुछ तो झड़कर गिर जायगा, जो कुछ बचा-खुचा रहेगा, वही परिपक्व होकर एक समग्र सुन्दर सभ्यता बन जायगी। एक छोटे परिणाममें ही अनुष्ठानकी परिसमाप्ति हो जानेपर एक विशेष शान्ति सौन्दर्य और निर्भयता रहती है और जो लोग मनुष्य प्रकृतिकी क्षुद्र एकतासे छूटकर विपुल विस्तारकी ओर जाते हैं, अपने अनुष्ठानको किसी सफलताकी आशासे त्यागकर किसी वृहत् परिणाम तक पहुंचनेकी चेष्टा करते हैं, उन लोगोंको अनेकों बाधा-विघ्नों, अशान्ति और विप्लवके रण-क्षेत्रसे होकर धीरता

पूर्वक अग्रसर होना पड़ता है। परन्तु वे ही संसारमें यथार्थ वीर हैं। यदि वे रणभूमिमें खेत भी आते हैं, तो भी उनकी अक्षय कीर्त्ति रहती है। इस वीरता, तेज तथा सौन्दर्य्यके इस मिलनसे ही यथार्थ पूर्णता आती है। इनकी विभिन्नतासे सभ्यता अधूरी रह जाती है। तो भी हमलोग जोर देकर यूरोपकी सभ्यताको अधूरी नहीं कह सकते और यदि कहें भी तो किसी पर विशेष चोट नहीं पहुंचती, यूरोप हमें अर्द्ध सभ्य कहता है। इससे हमें चोट पहुँचती है, क्योंकि वह हमारा कर्णधार हो रहा है।

मैं इस गाँवके एक भागमें बैठा हुआ अपने सीधे-सादे तानपूरेके चार तारोंसे सुन्दर सुर मिलाकर यूरोपीय सभ्यतासे कहता हूं, तुम्हारा सुर अभी ठीक मिला नहीं और साथ ही अपने तानपुरेसे भी कहता हूं, कि तुम भी दो चार सुरोंकी अविरत झंकारको ही सम्पूर्ण संगीत शास्त्र समझ, सन्तुष्ट होकर न बैठे रहो। वरन् ऐसा भी हो सकता है, कि आजकी यह बेसुरी विश्रृङ्खल रागिनी कल किसी विशेष प्रतिभाके प्रभावसे महासंगीतमें परिणत हो जाय। परन्तु हाय! तुम्हारे एक-एक तारसे जो महत् मूर्तिवान् संगीत निकल रहा है, उसको निकाल बाहर करना प्रतिभाके लिये भी सम्भव नहीं है।

चौथी बैठक

स्रोतस्विनी सवेरे ही मेरी कापी सामने रखकर बोली—यह तुमने क्या लिखा है? जो बात मैंने कभी नहीं कही, वह तुमने मेरे मुखसे क्यों कहलायी?

मैंने कहा—इसमें हर्ज ही क्या है ?

स्रोतस्विनीने कहा—मैं ऐसी बात कभी नहीं कहती और कह सकती भी नहीं। यदि तुम ऐसी बात मेरे नामसे लिखते हो जो मैं कहूं या न कहूं पर मेरे मुखसे निकलना सम्भव हो, तो मैं इतनी लज्जित न होती, किन्तु मैं देखती हूं, कि तुम एक पुस्तक लिखकर मेरे नामसे चलाना चाहते हो।

मैंने कहा—तुम कैसे समझ सकती हो, कि तुमने हम लोगोंसे कितनी बातें कही हैं ? तुम हमसे जो कहती हो, वह और हम तुम्हें जितना जानते हैं वह, दोनों मिलकर बहुत हो जाते हैं। तुम्हारे सारे जीवनसे तुम्हारी बातोंकी संख्या अपरिमित हो जाती हैं। तुम्हारी उन अव्यक्त गुह्य बातोंको मैं छोड़ नहीं सकता।

स्रोतस्विनी चुप हो रही। कह नहीं सकता, कि मेरी बात समझ सकीं या नहीं। शायद समझ गई थीं, तो भी मैंने फिर कहा—तुम जीती जागती जीवन्त मूर्त्ति हो। प्रतिक्षण नये-नये भावोंसे अपनेको व्यक्त करती हो! अपने अस्तित्व, अपनी वास्तविकता और अपनी सुन्दरताके विषयमें किसीका विश्वास उत्पन्न कर देनेके लिये तुम्हें कोई चेष्टा ही नहीं करनी पड़ती, किन्तु लेखमें उस सत्यको प्रमाणित करनेके लिये अनेक उपायोंका अवलम्बन करना पड़ता है—अनेक वाक्योंको खर्च करना पड़ता है। नहीं तो प्रत्यक्षके साथ बराबरी करनेमें अप्रत्यक्ष टिक नहीं सकता। तुम जो यह समझती हो, कि मैंने तुम्हें बढ़ाकर लिखा है सो बात नहीं, मैंने तुम्हारा वर्णन बहुत संक्षेपमें किया है। मैंने तुम्हारी लाखों बातें लाखों कामोंके रंग बिरंगे चित्रों और आकार-इंगितोंका सिर्फ सार संग्रह कर पाया

है। यदि ऐसा न होता तो तुमने जो बात मुझसे कही थी, उसको मैं दूसरोंके कानों तक नहीं पहुँचा सकता था, तुम्हारे विषयमें लोगोंका ज्ञान बहुत ही अधूरा रह जाता।

स्रोतस्विनी दाहिनी ओर मुख फेरकर एक पुस्तकके पन्ने उलटती हुई बोलीं—तुम हमें कुछ प्यार करते हो, इसलिये तुम्हारी धारणा मेरे विषयमें इतनी ऊँची है। वास्तवमें मैं तो वैसी नहीं हूँ।

मैंने कहा—मेरा क्या तुम्हारे प्रति इतना स्नेह है, कि तुम जितनी हो, उतनी ऊँची दृष्टिसे मैं तुम्हें देखता हूं।

किसी मनुष्यके सभी गुणोंका कौन आदर कर सकता है? ईश्वरके समान किसके पास ऐसा उदार स्नेहका भाण्डार है?

क्षिति एकबारगी व्यग्र हो उठे। बोले—यह तुमने कैसी बात छेड़ दी? स्रोतस्विनीने किसी दूसरे ही मर्मसे यह प्रश्न किया था और तुमने किसी दूसरे ही मर्मसे उत्तर दिया।

मैंने कहा—समझता हूं। किन्तु बातचीतमें ऐसे अप्रासंगिक उत्तर प्रत्युत्तर हुआ ही करते हैं। मन एक ऐसे गुह्य पदार्थके समान है, कि उसमें जिस स्थानपर प्रश्न-रूपी चिनगारी जा पड़ती है, वहां तो कुछ भी नहीं होता, बल्कि दस-बारह हाथ दूरके स्थान पर एकाएक जल उठता है। मन्त्रणा-सभामें बाहरी लोगोंका प्रवेश निषिद्ध रहता है, परन्तु एक बड़े उत्सवके समय जो आता है, उसीको आदरसे बुलाकर बैठाया जाता है। वैसे ही हमारा वार्त्तालाप एक-एक उत्सवके समान है। वहां यदि कोई अप्रासंगिक बात बिना बुलाये आ जाती है, तो उसे तुरन्त सादर ग्रहण करना पड़ता है। यदि हम उसे

सहास्य कुशल प्रश्नसे आप्यायित न करें, तो हमारे उत्सवकी उदारता नष्ट हो जायगी।

क्षितिने कहा—मुझसे भूल हुई। तुम जो कहना चाहते थे, वही कहो। राके उच्चारण मात्रसे रामका स्मरण हो जानेके कारण प्रह्लाद रो देते हैं, उनके मुखसे दूसरा अक्षर ही नहीं निकलता। एक प्रश्नको सुनते न सुनते आपके मनमें जब दूसरा ही उत्तर उठ जाता है, तो ऐसी अवस्थामें एक कदम भी बढ़ना कठिन है। परन्तु प्रह्लादकी प्रकृतिके मनुष्योंको उनकी इच्छाके अनुसार ही चलने देना अच्छा है। जो आपको अच्छा लगे, कहे चलिये।

मैंने कहा—मैं कह रहा था, कि हम जिसे प्यार करते हैं, उसीके भीतर हम सारे संसारको देखते हैं—अनन्तका परिचय पाते हैं। यहां तक कि, जीवके भीतर अनन्तका अनुभव होनेका ही दूसरा नाम प्रेम है। प्रकृतिके भीतर अनन्तका अनुभव करनेका नाम सौन्दर्य्य सम्भोग है। मुझे एक बात अभी याद पड़ी, कि समस्त वैष्णव धर्ममें यह गम्भीर तत्त्व वर्त्तमान है।

क्षिति मन ही मन सोचने लगे, कैसी आफत आयी! फिर तत्त्वकी बात कहांसे कूद पड़ी। स्रोतस्विनी और दीप्ति भी तत्त्वकी बात सुननेके लिये विशेष उत्कण्ठित नहीं जान पड़ती थीं। किन्तु कोई बात जब मनके अन्धकारसे अकस्मात् निकल पड़ती है, तब भावका शिकारी अपने अभ्यासके अनुसार अपनी शक्ति भर उसका पीछा करता है। अपनी बातको अपने वशमें रखनेके लिये भावुक बकता जाता है और लोग समझते हैं, कि वह दूसरेको तत्त्वका उपदेश कर रहा है।

मैंने कहा—वैष्णव धर्म पृथ्वीके सभी प्रेम-सम्बन्धोंके भीतर ही ईश्वरका अनुभव करनेकी चेष्टा करता है। जब वह देखता है कि अपनी सन्तानको देखकर मांके आनन्दकी सीमा नहीं रहती, तब इस मानव-कुसुमको अपनी स्नेहवल्लीसे वेष्ठित कर अपने हृदय की कली खिला देता है और अपनी सन्तानके भीतर अपने ईश्वर को आरोपित कर उसकी पूजा करने लगता है। जब देखता है कि स्वामीके लिये दास अपना प्राण दे देता है, मित्रके लिये मित्र अपने स्वार्थको विसर्जन कर देता है, प्रणयी और प्रणयिनी एक-दूसरेके लिये अपना यथा-सर्वस्व विसर्जन करनेके लिये व्याकुल रहते हैं, तब वह इन समस्त आदर्श प्रेमोंके भीतर एक सीमातीत अलौकिक ऐश्वर्यका अनुभव करता है।

क्षितिने कहा—मैं जितना ही सुनता हूँ कि सीमाके भीतर असीम और प्रेममें अनन्तका निवास है, उतना ही ये बातें मुझे दुर्बोध होती जाती हैं। पहले मैं ख्याल करता था कि ये बातें मेरी समझमें आती हैं, पर अब देखता हूं कि असीम, अनन्त इत्यादि शब्द मेरी चिन्ता-शक्तिसे बाहर हैं।

मैंने कहा—भाषाकी तुलना पृथ्वीसे की जा सकती है। एक अनाज बार-बार बोनेसे खेतकी उत्पादिका शक्ति नष्ट हो जाती है। "अनन्त" और "असीम" शब्द चिरकालके व्यवहारसे पुराने हो गये हैं। इसलिये किसी विशेष और यथार्थ अर्थमें प्रकट करनेके सिवा इन शब्दोंका व्यवहार करना उचित नहीं है। मातृ-भाषाके प्रति कुछ अनुग्रह रखना आवश्यक है।

क्षितिने कहा—भाषाके प्रति तुम्हारा आचरण तो उदार नहीं दीख पड़ता।

समीर अभी तक मेरी कापी पढ़ रहे थे। उसे खतम कर बोले—यह तुमने क्या किया है ? तुम्हारी डायरीके ये पात्र मनुष्य हैं या वास्तवमें भूत ही हैं ! देखता हूँ कि ये अच्छी-अच्छी बातें कहते हैं, पर इनका आकार-प्रकार कहाँ है ?

मैंने कुछ उदास होकर कहा—क्यों ; कहो तो सही ?

समीरने कहा—क्या तुमने समझ लिया है कि आमकी अपेक्षा अमावट ही अच्छा है ? उसकी गुठली, रेशा, छिलका और रस आदि छोड़ ही दिया, परन्तु वह सुन्दर गन्ध, मनोहर आकार कहां है ? तुम केवल हमारा सार अंश ही लोगोंको चखाओगे और हमारी आकृति कहां हवा खाने जायगी ?

तुमने हमारी निष्प्रयोजन और अर्थशून्य बातोंको कथा-प्रसंग से निकालकर हमारी एक ऐसी जड़-मूर्ति खड़ी कर दी है, जिसके मुखसे बात ही नहीं निकल सकती। मैं सिर्फ दो-चार शिक्षित पुरुषोंकी शाबाशीसे ही सन्तुष्ट होना नहीं चाहता, वरन् साधारण लोगोंमें ही रहकर जीवित रहना चाहता हूँ।

मैंने कहा—इसके लिये क्या करना होगा ?

समीरने कहा—इसे मैं क्या जानूँ ? मैंने सिर्फ अपनी आपत्ति प्रकट कर दी। मुझमें जैसा गुण है, वैसा ही स्वाद भी है। सार मनुष्यके लिये आवश्यक भले ही हो, पर स्वाद ही सबको पसन्द है। मैं नहीं चाहता कि लोग मुझको उपलक्ष्य बनाकर आपसमें तर्क और वितण्डावाद करें। मैं सिर्फ यही चाहता हूँ कि लोग मुझे पहचान लें। भ्रम-संकुल अपने प्रिय मानव-जीवनको त्यागकर मैं किसी मासिक-पत्रके एक निर्मूल लेखका आकार धारण करना नहीं चाहता। मैं दार्शनिक तत्त्व नहीं हूँ और न छपी हुई पुस्तक

और न तो तर्ककी सुयुक्ति और कुयुक्ति ही हूँ। मेरे मित्र, मेरे सम्बन्धी, मुझे जिस दृष्टिसे देखते हैं, जिस नामसे पुकारते हैं, मैं वही हूँ।

व्योम अब तक एक चौकीके सहारे बैठे हुए दूसरी चौकीपर पैर फैलाकर शान्त और गम्भीर भावसे विचार रहे थे। वह सहसा बोल उठे—क्या तर्क, क्या तत्त्व, सभीकी चरम परिणति है, एक सिद्धान्तपर पहुँचना—उपसंहार तक अग्रसर होना, समाप्तिमें ही उनका गौरव है। परन्तु मनुष्यकी प्रकृति भिन्न प्रकारकी है। अमरत्व, असमाप्ति उसकी सर्व-प्रधान वास्तविकता है। अविराम गतिसे अग्रसर होना ही उसकी प्रकृतिकी विशेषता है। किसकी सामर्थ्य है कि अमरत्वमें घटती-बढ़ती कर सके—गतिको संक्षिप्त कर सके? अच्छे-अच्छे चातुर्यपूर्ण शब्द यदि बिना प्रयासके मनुष्यकी जिह्वापर रख दिये जाएँ, तो ऐसा भ्रम होगा कि उसके मनमें चलच्छक्ति है ही नहीं—उसके विकासकी प्रगति जहांकी तहां रुक गई है। चेष्टा, भ्रम, असम्पूर्णता और पुनरुक्ति यद्यपि सम्प्रति मनुष्यकी अल्पज्ञताकी द्योतक प्रतीत होती हैं, तथापि भविष्यमें मनुष्यकी सुन्दरता उन्हींसे प्रस्फुटित हो जाती है—वे ही मानव-सौन्दर्यके प्रधान प्रमाण हैं। इनसे चिन्ता-जीवनकी एक गति निर्दिष्ट हो जाती है। मनुष्यके वार्तालाप तथा चरित्रके भीतर यदि कच्चे रंग अर्थात् असमाप्ति, कोमलता और दुर्बलता न रख छोड़ी जाय, तो वे अत्यन्त संक्षिप्त हो जायँगे, उनका पूर्ण विस्तार तथा विकास न हो सकेगा। उनकी वही अवस्था होगी, जो किसी बड़े नाटककी विषय-सूची ही बताकर उसे बन्द कर देनेसे हो सकती है।

समीरने कहा—मनुष्यमें व्यक्त करनेकी शक्ति अत्यन्त अल्प है। इसलिये प्रकट करते समय उसे निर्देश करना पड़ता है—अपनी भाषामें भाव-भङ्गीका संयोग करना पड़ता है और अपने भावके साथ अपनी चिन्ताका समावेश करना पड़ता है। काठका रथ बना देनेसे रथ नहीं हो गया, बल्कि उसमें रथकी गति-शक्ति डालनी पड़ेगी। किसी मनुष्यको लाकर खड़ा कर दो और फोनोग्राफ और हारमोनियमकी तरह उससे दो-चार बातें कहला लो, उसीसे उसके मनुष्यत्वका परिचय नहीं मिल गया। इसके लिये उसमें मनुष्यके सभी गुण दिखलाने होंगे—उसे चलना-फिरना होगा, स्थान बदलना होगा और इस अभिप्रायसे कि उसका गौरव और महत्त्व अक्षुण्ण रहे, उसे अधूरा-असमाप्त ही रख छोड़ना होगा।

मैंने कहा—यही तो जरा टेढ़ी खीर है। बातको समाप्तकर समझाना पड़ेगा, अभी वह पूरी समझमें नहीं आयी। सभी तो होगा, परन्तु उसमें उचित भाव-भंगी कैसे दी जायगी?

स्रोतस्विनीने कहा—इस विषयको लेकर साहित्यमें बहुत दिनोंसे वाद-विवाद चला आ रहा है। प्रश्न यह है, कि विषय अधिक महत्वपूर्ण है अथवा उसके प्रकट करनेकी मुद्रा—प्रस्तुत करनेका तरीका। मैंने इस विषयपर अनेकों बार विचार किया है, परन्तु किसी सन्तोषजनक सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सकी। मेरी समझमें आता है, कि तर्ककी झोंकमें जिसे हम प्रधानता देते हैं, वही उस समयके लिये प्रधान हो जाता है।

व्योमने कड़ी बरगेकी ओर शिर उठाकर कहा—साहित्य विषय श्रेष्ठ है या उसकी मुद्रा, इस विषयपर विचार करनेके पहले मैं

देखना चाहता हूँ, कि कौन अधिक रहस्यमय है। विषय देह है और मुद्रा है जीवन। देहकी वर्त्तमानमें ही समाप्ति हो जाती है, परन्तु जीवन एक चञ्चल असमाप्तिके रूपमें उसके साथ लगा हुआ है। जो उसे वृहत भविष्यत्‌की ओर खींचे लिये जा रहा है। जो जितना दिखलायी देता है, उसके सिवा और भी कितनी ही आशापूर्ण नयी-नयी सम्भावनायें उसके साथ जुड़ी हुई हैं। जहां-तक तुम विषयके रूपमें प्रकट करते हो, वह तो जड़ देह मात्र है, वह एक सीमामें आवद्ध है और जितना तुमने अपनी भाव-भंगीके द्वारा उसमें संचारित कर दिया है, वही जीवन है, वही उसकी वृद्धि-शक्ति और चलच्छक्तिका द्योतक है।

समीरने कहा—साहित्य विषय ही पुराना है। पर वह आकार धारण कर नया हो जाया करता है।

स्रोतस्विनीने कहा—मेरी समझमें मनुष्यके विषयमें भी यही बात घटती है। कोई-कोई आदमी ऐसी मानसिक प्रकृति लेकर प्रकट होते हैं, कि उन्हें देखकर प्रतीत होता है, कि वे पुरानी मानव प्रकृतिके विस्तारके नये आविष्कार करनेवाले हैं।

दीप्तिने कहा—मन और चरित्रकी यह आकृति ही हमारी प्रकृतिका एक नमूना है। इसके द्वारा हम एक दूसरेकी जाँच-पड़ताल और जान-पहचान कर लेती हैं। मैं कभी-कभी सोचती हूँ, कि हमारी शैली क्या ही विचित्र है। समालोचक लोग इसे प्राञ्जल कहते हैं पर वह भी ठीक नहीं।

समीरने कहा—परन्तु ओजस्वी तो जरूर है। तुमने जिस आकृतिकी बात कही है, और जो विशेष रूपसे हमारी ही अपनी

है, मैं भी उसीकी बात कहता था। चिन्ताके साथ-साथ आकृतिकी अस्तित्व-रक्षा करनेका मैं अनुरोध कर रहा था।

दीप्तिने जरा हँस कर कहा—किन्तु सभीकी आकृति समान नहीं है। इसलिये अनुरोध करनेके पहले खूब सोच-विचार लेना चाहिये। किसी आकृतिसे मनुष्यका भाव परिस्फुट होता है और किसीसे छिप जाता है। हीरेकी ज्योति हीरेमें स्वतः प्रकाशित है, उसे प्रकट करनेके लिये हीरेको तोड़कर उसमेंसे ज्योति बाहर नहीं निकालनी पड़ती। परन्तु तृणमें आग लगाकर जब जलाते हैं, तभी उसकी ज्योति प्रकट होती है। मुझ जैसे तुच्छ प्राणियोंके लिये यह आक्षेप और विलाप शोभा नहीं देता कि साहित्यमें हमारी आकृतिका अस्तित्व नहीं रह जाता। कोई-कोई ऐसे होते हैं, जिनका अस्तित्व, जिनकी प्रकृति और जिनका सर्वस्व हमारे लिये एक नयी शिक्षा—नये आनन्दका विषय प्रतीत होता है। उनको व्यक्त करनेके लिये उनके समस्त आकार-प्रकारको ज्योंका त्यों रख छोड़ना ही बहुत होता है। और कोई-कोई ऐसे भी होते हैं, जिनका छिलका निकाल कर भीतरी अंश देखना पड़ता है, उनका गुदा बाहर निकालना पड़ता है। इसलिये उन्हें चाहिये, कि हमारे कृतज्ञ हों, क्योंकि कितने मनुष्य ऐसे हैं जो चरित्रका गुदा—उसका सार अंश प्रकट कर सकते हैं और कितने लोग ऐसे हैं जिनमें गुदा है ?

समीरने हँसते हुए कहा—क्षमा करना, दीप्ति, स्वप्नमें भी यह विचार मेरे मनमें नहीं उठा है, कि मैं तृणके समान तुच्छ और दीन हूँ। अधिकन्तु, जब मैं अपने भीतर देखता हूँ, तो मालूम होता है, कि मेरा अन्तःकरण खानका हीरा है। इस समय मैं इसी आशामें बैठा हूँ, कि कोई परखनेवाला जौहरी मेरे अन्तःकरणको

पहचान ले। क्रमशः जितने दिन बीतते जाते हैं, उतना ही मेरा विश्वास दृढ़ होता जाता है, कि पृथ्वी पर जितनी जौहरीकी कमी है, उतनी जौहरकी नहीं। तरुणावस्थामें पृथ्वीपर मनुष्य दिखलायी ही नहीं पड़ता था, ऐसा मालूम होता था कि यथार्थ मनुष्य उपन्यास और महाकाव्योंमें ही स्थान बनाये हुए हैं, पृथ्वीपर सिर्फ एक मनुष्य अवशिष्ट है। अब देखता हूँ, कि बस्तियाँ मनुष्योंसे भरी हुई हैं। उन बस्तियोंमें घुसकर—मानव-हृदयकी भीड़में प्रवेश कर—उन्हें पहचानने—खोजनेकी जरूरत है। यदि तुम मनुष्यके हृदयको टटोलकर देखो, तो देख पाओगे कि सभामें जिनके मुखसे बात नहीं निकलती, वे यहाँ वाचाल हो गये हैं, लोक-समाजमें जो अनादृत और उपेक्षित होते हैं, वहाँ उनका विशेष आदर और सम्मान किया जाता है। पृथ्वीपर जो लोग अनावश्यक-व्यर्थ प्रतीत होते हैं, यहाँ उन्हीं लोगोंने अपने सरल प्रेम, अविश्राम सेवा, आत्मविस्मृति और आत्मविसर्जनके ऊपर ही पृथ्वी प्रतिष्ठित कर दी है। भीष्म, द्रोण, भीम, अर्जुन आदि तो महाकाव्यके नायक हैं; किन्तु हमारे छोटे-छोटे कुरुक्षेत्रोंके भीतर भी उनके आत्मीय स्वजन वर्त्तमान हैं। उस आत्मीयता-सम्बन्धको व्यक्त करनेवाला क्या कोई नया द्वैपायन अवतीर्ण होगा?

मैंने कहा—न होनेसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। मनुष्य यदि एक दूसरेको न पहचानता तो परस्पर इतना प्यार कैसे कर सकता? एक युवक अपना जन्मस्थान और आत्मीय स्वजनोंको छोड़, दूर देशमें ८—१० रुपये वेतनपर किरानीका काम करता था। मैं ही उसका मालिक था पर इतना भी नहीं जानता था, कि वह हमारे यहाँ नौकर है, कारण, वह बहुत ही साधारण आदमी था। एक

दिन अकस्मात् उसे हैज़ा हुआ, अपने शयन-कक्षसे मैंने सुना, वह "चाची-चाची" कहकर कातर स्वरसे चिल्ला रहा था। उस समय सहसा उसका गौरवहीन क्षुद्र जीवन मेरे सामने कितना महान् प्रतीत हुआ, इसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता।

वह अज्ञात, अख्यात, मूर्ख आदमी सारा दिन सिर झुकाये, बैठा हुआ कलम घिसा करता था। क्या ही हीन जीवन उसका बीत रहा था। परन्तु उसे भी किसी विधवा चाचीने अपनी निःसन्तान परन्तु वात्सल्यपूर्ण स्नेहधारासे सींचकर पाला-पोसा था। सन्ध्या समय जब वह थका-माँदा अपने डेरेको लौट आकर अपने हाथों चूल्हा जलाता और रसोई करता, उस समय जब तक चावल फट-फट करके न सीजता, तब तक क्या वह दहकती हुई अग्निशिखाकी ओर ताकता हुआ, उस सुदूर कुटीर निवासिनी, स्नेहमयी, कल्याणमयी चाचीको नहीं याद करता था? एक दिन उसकी नकलमें भूल हो गई, जोड़ नहीं मिला, उसके ऊपरी कर्मचारीने उसे बहुत ही डाँटा-डपटा और अपमानित किया। क्या उस दिन सवेरे उसे चाचीकी पीड़ाकी खबर चिट्ठी द्वारा न मिली थी? इस नगण्य आदमीके प्रतिदिनके कुशल समाचारको जाननेके लिये क्या उस स्नेहपरिपूर्ण पवित्र-हृदया चाचीके हृदयमें कम उत्कण्ठा होती थी? इस युवकके प्रवासके साथ क्या थोड़ी करुणा और कातरता थी?

सहसा उस रातको यह बुझती हुई प्राणशिखा एक अमूल्य महिमासे मेरे सामने दीप्त हो उठी। मैं समझ गया, कि यदि इस नगण्य मनुष्यको किसी तरह बचा सका, तो मैं एक बड़ा काम करनेमें समर्थ होऊँगा। मैंने निःसन्देह सारी रात जागकर

उसकी सेवा-सुश्रूषा की, परन्तु चाचीकी सम्पत्तिको चाचीके यहाँ लौटा न सका। मेरा वह मुहर्रिर जाता रहा। भीष्म, द्रोण, भीमार्जुन बहुत महान् पुरुष हैं, परन्तु इस मनुष्य का भी मूल्य कुछ कम नहीं है। उसका मूल्य किसी कविने अनुमान नहीं किया, किसी पाठकने स्वीकार नहीं किया है, इसलिये उसका कुछ मूल्य ही न हो, सो नहीं। एक प्राणीने उसके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर किया था। खुराक पोशाक समेत उसे ८) रुपये मिलते थे। वह भी बारहो मास नहीं। महत्त्व अपनी ज्योति से अपने आप प्रकाशित हो जाता है। परन्तु हमारे जैसे दीप्तिहीन छोटे-छोटे मनुष्योंको बाहरी प्रेमकी रोशनीसे प्रकाशित होना पड़ता है। चाचीके प्रेमका दृष्टान्त लेकर हम देख सकते हैं कि मनुष्य कैसे प्रेमसे सहसा दीप्यमान हो जाता है। जहाँ अन्धकारमें कुछ भी नहीं देख पड़ता था, वहाँ प्रेमकी किरण पड़नेसे सहसा देखा गया, कि वह स्थान लोगोंसे भरा हुआ है।

स्रोतस्विनी स्नेहस्निग्ध मुस्कानसे बोली—तुम्हारे विदेशी मुहर्रिरकी बात तो मैंने पहले भी तुमसे सुनी थी। न जाने क्यों, उसकी बात सुनकर हमारा हिन्दुस्तानी बेहरा नीहर याद आ जाता है। हाल ही में दो बच्चोंको छोड़कर उसकी स्त्री मर गयी है। फिर भी वह काम करता है! दोपहरको बैठा-बैठा पंखा खींचता है। पर अब उसका उत्साह भंग हो गया है। अब वह दुबला-पतला और रोगी हो गया है। उसे देखकर मुझे बड़ी दया आती है, बड़ा कष्ट होता है, परन्तु यह कष्ट सिर्फ उसके लिये मेरे मनमें नहीं होता, वरन् मानव-जातिके लिये होता है। मैं कितना ही अपने

मनको समझाती हूं, पर वह मानव-समाजके कष्टको देखकर अभि-भूत हो जाता है।

मैंने कहा—इसका एक कारण है। उस नौकरको जो कष्ट है, वही कष्ट मानव-समाजको है। सभी मनुष्य प्रेम करते हैं और विरह-विच्छेद तथा मृत्युसे दुःखित और पीड़ित होते हैं। तुम्हारे इस पंखा खींचनेवाले नौकरके आनन्दरहित विषण्ण मुखपर समस्त प्राणिमात्रका विषाद अंकित हो गया है।

स्रोतस्विनीने कहा—सिर्फ यही नहीं, मेरी समझमें पृथ्वी पर जितना दुःख है, उतनी दया नहीं। कितने दुःख ऐसे होते हैं, जहाँ मनुष्यकी सान्त्वना कुछ काम ही नहीं कर सकती और कितनी जगह अनावश्यक प्रेमकी अतिवृष्टि होती है। जब देखती हूं कि मेरा नौकर धीरज धरकर चुपचाप पंखा झलता है, बच्चे फर्श पर लोटते हैं और गिर पड़ने पर चिल्लाकर रो उठते हैं, तब पिता मुख फेरकर कारण जाननेकी चेष्टा करता है, परन्तु पंखा छोड़कर जानेका साहस नहीं करता। तब मुझे अनुभव होता है, कि मनुष्यके जीवनमें बहुत ही कम सुख बदा है। कुछ नहीं तो, पेटकी चिन्ता ही उसे सदा सताया करती है। जीवनमें चाहे जितनी बड़ी दुर्घटना ही क्यों न घट जाय, दो मुट्ठी चावलके लिये उसे नियमित रूपसे काम करना ही पड़ेगा। कोई त्रुटि हो जाने पर कोई क्षमा नहीं करेगा। मैं जब सोचती हूं, कि पृथ्वी पर ऐसे असंख्यों मनुष्य हैं, जिनके दुःख कष्ट और मनुष्यत्वको हम कुछ समझते ही नहीं—जानते ही नहीं, कि उन्हें भी दुःख-कष्ट होता है, वे भी मनुष्य हैं, उनसे दिन-रात काम कराकर वेतन चुका देते हैं, उनके प्रति हम

स्नेह, दया, सान्त्वना और श्रद्धा आदि कोई भी मानवी भाव नहीं दिखलाते ; तब मुझे प्रतीत होता है, कि पृथ्वी मानों एकदम गाढ़ अन्धकारसे ढकी हुई है, हमारी स्वार्थपूर्ण दृष्टि उसे देख ही नहीं सकती। किन्तु वास्तवमें उस अज्ञातनामा दीप्तिहीन देशके मनुष्य भी प्यार करते हैं और वह भी प्यारके योग्य हैं। मेरे मनमें आता है, कि जिस मनुष्यमें गौरव नहीं, जो एक अस्वच्छ आच्छादनमें ढका रहकर अपने आपको व्यक्त नहीं कर सकता, यहाँ तक कि, जो अपनेको भी नहीं पहचानता, गूँगे बहरेकी तरह आप सुख-दुःख भोगता रहता है ; उसे मनुष्य कहकर परिचय देना—अपना आत्मीय समझकर ग्रहण करना, उसके ऊपर काव्यकी रोशनी डालकर दीप्तिमान बनाना, आजकलके हमारे कवियोंका कर्त्तव्य है।

क्षितिने कहा—पुराने जमानेमें किसी समय सभी विषयोंमें प्रबलताका आदर अधिक था। उस समय मनुष्य समाज अनेक अंशोंमें असहाय और अरक्षित था। उस समय जिसमें प्रतिभा थी, शक्ति थी, वह समस्त संसार पर अधिकार जमा लेता था। इस समय सभ्यताके सुशासन और शृंखलाके कारण विघ्न-बाधायें, आपद्-विपद् दूर हो गई हैं और प्रबलता अधिक परिमाणमें घट गयी है। इस समय शक्तिहीन लोग भी संसारके एक बड़े अंशके साझीदार हो गये हैं—इस समयके काव्य-उपन्यासोंमें भी भीष्म, द्रोणको छोड़कर इन्हीं गूँगी-जातियोंकी भाषा और भावको कवियोंने प्रकट करना आरम्भ कर दिया है।

समीरने कहा—नवोदित साहित्य-सूर्य्यकी किरण पहले-पहल सबसे ऊँचे पर्वत शिखर पर ही पड़ी थी। अब क्रमशः

नीचेकी उपत्यकाके भीतर छिटककर गरीब दीन-दुखियोंकी कुटियोंको भी प्रकाशित कर रही है।

पांचवीं बैठक

मध्याह्नका समय है और नदीका किनारा। मैं देहातके एक एकतल्ले मकानके एक निर्जन कमरेमें बैठा हुआ हूं। छिपकली घरके कोनेमें टिक-टिक कर रही है। दीवारमें खुदे हुए पंखेके छेदमें एक गौरैया घोंसला बनानेके लिये बाहरसे घास-पात बटोर कर ले आती है और कच-मच करती हुई बड़ी फुर्तीसे उसे सजाती है। नदीमें नौका बही चली जा रही है। ऊँची करारकी आड़में, नीलकाशके भीतर, उसका मस्तूल और खुली पालका कुछ अंश दिखलाई पड़ रहा है, वायु शीतल और स्निग्ध है और आकाश स्वच्छ तथा परिमल। दूसरे किनारेकी सुदूर रेखासे लेकर मेरे बरामदेके सामनेके घिरे बगीचे तकका मनोहारी दृश्य उज्ज्वल सूर्यालोकमें एक विचित्र चित्रपटके समान भासता है। क्या ही सुखमय जीवन है। माँकी गोदमें बच्चा जैसे एक प्रकारकी उष्णता, एक प्रकारका आराम तथा एक प्रकारका स्नेह-स्पर्श अनुभव करता है, वैसे ही इस प्राचीन प्रकृतिकी गोदमें बैठकर मैं एक प्रकारका स्नेहपूर्ण, जीवनपूर्ण, आदरपूर्ण कोमल उत्ताप अपनी चारों ओर अनुभव कर रहा हूं। इस प्रकारका जीवन व्यतीत करनेमें हर्ज ही क्या है? क्यों न मैं इसी तरह प्रकृतिकी गोदमें खेलता रहूं! कागज-कलम लेकर बैठनेके लिये

कौन मुझे उकसा रहा है ? किस विषयमें मेरा क्या मत है, किसे मैं पसन्द करता हूं और किसे नहीं, इस बातको लेकर एका-एक धूम-धाम और समारोहके साथ कमर कसकर लड़नेकी क्या आवश्यकता है ? यह देखो, मैदानके भीतर कहीं कुछ न था, एकाएक एक बवंडर आया और कुछ धूल-पत्तोंको घुमा-घुमा कर उड़ाता-पड़ाता हुआ क्या ही चमत्कार दिखा गया ! वह अपने पैरोंकी अंगुलियों पर क्या ही विचित्र अंगभगीके साथ तन-कर आकाशकी ओर घूमता हुआ कुछ क्षण खड़ा हो फिर झटपट कूड़ा-करकट और राख-पातको उड़ा-पड़ाकर न जाने किस देशको जा लगा। उसमें रखा ही क्या था ? थोड़ी-सी राख-पात और धूल-बालू। जिसे उसने चुराकर एकत्र कर लिया था। इन्हींको लेकर वह बड़े हाव-भाव और बनठनके साथ नाच-कूद रहा था। इसी प्रकार निर्जन प्रान्तमें वह चारों ओर घूमा-फिरा करता है। उसका न कोई उद्देश्य है और न कोई दर्शक। न उसका कोई मत है और न तत्त्व ! उसे न कोई समाज है और न इतिहासके सम्बन्धमें कोई विशेष अभिज्ञता। पृथ्वी पर जो चीजें सबसे अधिक अनावश्यक हैं, जिन्हें सभी लोगोंने व्यर्थ समझकर कूड़ा-करकटमें फेंक दिया है, उन्हींको एक हवाके झोंकेसे सजग कर क्षण-भरके लिये यह जीवित, जागृत और सुन्दर बना देता है।

मेरा जीवन भी क्या ही सरल और मधुर होता, यदि मैं भी इसी प्रकार इधर-उधरकी चीजोंको फुत्कारसे उड़ा-पड़ाकर एक जैसी तैसी इमारत खड़ी करके जीवनका लट्टू नचाता हुआ इस संसारका खेल-स्वांग करता ! मैं अपनेको धन्य मानता, यदि मैं भी हँसी-

खेलमें सृष्टि करता और तुरत ही उसे फूँककर उड़ा देता ! चिन्ता-हीन, चेष्टाहीन एवं लक्ष्यहीन जीवन बिताता। इस विस्तृत प्रान्तर, अनावृत आकाश और परिव्याप्त सूर्यालोकमें एक मात्र चिरन्तन आनन्दमय सौन्दर्यका आवेग-मात्र जीवनका बवंडर उठाता और मुट्ठी-मुट्ठी-भर धूल हाथमें लेकर इन्द्रजाल निर्माण करता। क्या ही सरल, क्या ही मधुर जीवन होता ! यही होता मुग्ध-हृदयका उदार उल्लास।

ऐसा होनेसे तो कोई बात ही न थी। किन्तु खड़े-खड़े पसीना बहाकर पत्थरके ऊपर पत्थर लादते जानेसे मतोंका स्तूप कुछ ऊँचा होनेके सिवा उनसे कोई विशेष उपकार नहीं होता। उस स्तूपमें न गति न प्रीति और न प्राण है। उससे केवल एक स्थूल कीर्त्ति प्राप्त होती है। कोई उसको आश्चर्य-चकित होकर देखता है, कोई पैरोंसे ठुकराता है—उसकी योग्यता भले ही कुछ न हो।

परन्तु इच्छा रहते हुए भी इस कार्यसे विरत होना कठिन है। सभ्यताके अनुरोधसे मनुष्यने मन नामक अपने शरीरके एक निभृत अंशको बेहद बढ़ावा देकर आकाश पर चढ़ा दिया है। इस समय यदि वह उस मनसे पिण्ड छुड़ाना चाहता है, तो भी वह उसे नहीं छोड़ता।

लिखते-लिखते मैंने सिर उठाकर बाहरकी ओर देखा—एक आदमी धूपके कारण सिरपर चद्दर डाले, दाहिने हाथमें पलाशके पत्तेपर थोड़ा मक्खन लिये हुए, रसोई-घरकी ओर जा रहा था। वह मेरा नौकर है, नाम है—नारायण सिंह। खूब हट्टा-कट्टा जवान है, चिन्ता तो उसे छू-तक नहीं गई है। जब देखो, तब हँसता हुआ। उसकी प्रकृति ठीक वैसी ही है, जैसी फलसे लदे-

भरे उत्तम खाद्य पाये हुए कटहलके पेड़की होती है। ऐसे ही लोग बहिर्प्रकृतिसे जल्दी हिल-मिल जाते हैं—इन्हींके साथ उसकी पटती है। प्रकृति और इनके बीच बहुत बड़ा व्यवधान नहीं है। इस जीवधात्री शस्यशालिनी विशाल बसुन्धरासे सटकर बैठे हुए ये आरामसे जीवन बिता रहे हैं। इनका अपने अन्तःकरणके साथ कोई मत-भेद और झगड़ा-तकरार नहीं है। वह वृक्ष-जैसे जड़से पत्ते तक अपनी विशेषता लिये वर्त्तमान हैं—अधिक कुछ प्राप्त करनेके लिये वह सरपच्ची नहीं करता—वैसे ही मेरा हृष्ट-पुष्ट नारायण सिंह भी अद्योपान्त अविकल नारायण सिंह है; उसमें कुछ भी विकार नहीं हुआ है।

यदि कोई कौतुक-प्रिय देवता धृष्टता कर उस कटहलकी जड़के भीतर एक बून्द 'मन' को छोड़ देवे, तो महा अनर्थ हो जाए। उस सरस श्यामल सुचारु-जीवनमें एक विचित्र आन्दोलन और परिवर्त्तन आरम्भ हो जाय! जब चिन्ताके कारण उसकी चिकनी और हरी पत्तियाँ सूखकर पीली पड़ जाएँ और जड़से लेकर डाली तकमें बूढ़ेके ललाटकी तरह झुर्रियाँ पड़ जाएँ, तब कितने ही बसंत आते-जाते रहें, उसके सर्वाङ्ग फिर पहलेके समान पुलकित नहीं हो सकते, तब उसमें पुष्प और पल्लव नहीं ला सकते, गोल-गोल गुच्छ के गुच्छ फलोंके बोझसे उसकी डालियाँ नहीं टूट सकतीं। तब वह सारा दिन एक पैरपर खड़ा रहकर सिर्फ यही सोचता रहेगा कि ईश्वरने मुझपर पत्तियोंका इतना बड़ा भार क्यों लाद दिया? मुझे पर क्यों न दिये? यद्यपि खूब तनकर ऊँचा होकर खड़ा हूं, तथापि ईश्वरकी शोभामयी प्रकृतिका निरीक्षण कर यथेष्ट आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। यदि पर होते, तो उड़-उड़कर उसकी

महामहिम प्रकृति-पुञ्जका अवलोकन करता—देखता कि इस दिगन्त के बाद भी कुछ है—देखता या आकाशके तारे जिस वृक्षकी शाखा में खिले हुए हैं, उसको किस उपायसे पकड़ा जा सकता है। मैं कहाँसे आया, कहाँ जाऊँगा—यह बात जब तक स्थिर नहीं हो जाती, तब तक पत्ते गिराकर, डाल सुखाकर पत्थरकी तरह ध्यान में निमग्न रहूंगा। मेरा अस्तित्व है या नहीं अथवा है भी और नहीं भी है—जब तक इन प्रश्नोंकी यथार्थ मीमांसा नहीं हो जाती, तब तक मुझे सुख एवं शान्ति नहीं। दीर्घ वर्षा-ऋतुके बाद जिस दिन प्रातःकाल पहले-पहल सूर्य निकलता है, उस दिन मेरी प्रत्येक शिरामें कैसी बिजली दौड़ जाती है—कैसी पुलकावली हो आती है, उसे व्यक्त करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। शीत-कालके अन्तमें, फाल्गुनके बीच, जिस दिन सहसा सन्ध्याके समय दक्षिणी हवाका एक झोंका बहता है, उस दिन इच्छा होती है—क्या इच्छा होती है, कोई बता सकता है?

हाय! अब कटहलकी क्या ही शोचनीय अवस्था है। अब उसमें न फूल फूलेंगे और न फल लगेंगे। जैसा पहले था, उससे अच्छा होनेकी उसने चेष्टा की थी—उन्नति करनेको पैर बढ़ाया था, पर इधरका हुआ न उधरका। अन्तमें एक दिन सहसा अन्तर्वेदना से मर्माहत होकर उबल पड़ा—उसके अंग-प्रत्यंगमें विद्रोह-शिखा प्रज्वलित हो उठी। वह किसी सामयिक-पत्रमें लेख लिखने बैठा। समालोचना, जंगली समाजके सम्बन्धमें असामयिक तत्त्वोपदेश इत्यादि भावोद्गार निकलने लगे। उसके भीतर न तो अब पल्लवों की खड़खड़ाहट रही, न पहलेकी छाया और न सर्वाङ्ग व्याप्त सरस सम्पूर्णता ही अब शेष रह गयी है।

यदि कोई भयंकर शैतान, सांपकी तरह छिपे-छिपे, मिट्टीके भीतर पैठ जाय और हजारों टेढ़ी-मेढ़ी जड़ियों और बूटियोंके भीतर 'मन' को डाल दे, तो संसारके समस्त तरु-लता तृणगुल्म एकदम सूख जाएँ। संसार छायाहीन मरुभूमिमें परिणत हो जाय। संसारकी सुख-शान्ति चिर-कालके लिये अन्तर्हित हो जाय। यह अच्छा ही है कि बगीचेमें गाते हुए पक्षियोंके गानका कोई अर्थ नहीं लगा सकता और अक्षरहीन हरित-पत्रोंके बदले डालीमें सूखे सफेद रंगके मासिक-पत्र, संवाद-पत्र और विज्ञापन लटकते हुए नहीं दिखलाई देते!

यह भी अच्छा ही है कि वृक्षके भीतर चिन्ताशीलता नहीं है। धतूराका पौधा कामिनी-कुसुमकी समालोचना कर यह नहीं कहने जाता कि तुम्हारे फूलमें कोमलता है, परन्तु तेजस्विता नहीं है। बेर कटहलको नहीं कहने जाता कि तुम अपनेको बड़ा समझकर गर्व अनुभव करते हो, पर मैं तुम्हारी अपेक्षा कुम्हड़ेको बहुत ऊँचा आसन देता हूं। कदली नहीं कहती कि मैं कम मूल्यमें सबसे बड़ा पत्ता देती हूं। अरबी उसकी प्रतियोगिता करके उसकी अपेक्षा कम दाममें बड़ा पत्ता नहीं बेचती।

तर्क-ताड़ित, चिन्ता-तापित, वक्तृता-श्रान्त मनुष्य उदार उन्मुक्त आकाशके चिन्ता-रेखाहीन ज्योतिर्मय प्रशस्त ललाटको देखने और अरण्यकी भाषाहीन मर्मरध्वनि तथा तरंगका अर्थहीन कलकल शब्द सुनने और इस मनोविहीन अगाध प्रशान्त प्रकृतिके भीतर स्नान करनेके कारण किञ्चित् स्निग्ध और संयत रहता है। इसी छोटी-सी मनकी चिनगारीको बुझानेके लिये इस अनन्त विस्तीर्ण अनन्त-समुद्रकी प्रशान्त जलराशिकी आवश्यकता होती है।

असल बात तो मैंने पहले ही कह दी है कि हमारे मनने आभ्यन्तरिक सामञ्जस्यको नष्ट-भ्रष्ट करके वृहदाकार धारण कर लिया है। उसे अब रहनेकी जगह ही नहीं मिलती। खाने-पीने, जीवन धारण करने तथा सुख और स्वच्छन्दतासे रहनेके लिये जितने बड़े मनकी आवश्यकता है, उससे वह कहीं वृहदाकर हो गया है। इसलिये प्रयोजनीय सभी कामोंको पूरा करके देखते हैं, तो हमारे चारों ओर बहुत-सा मन बचा रहता है। फलतः निष्कर्मा होकर बैठे-बैठे वह डायरी लिखता है, तर्क करता है, संवाद-पत्रोंमें लेख भेजता है। सहजको कठिन और सरलको जटिल बना डालता है। समझनेको और, समझ बैठता है और। इससे वह एक ऐसा भ्रान्त मत खड़ा करता है, जो कभी समझमें आ ही न सके। ऐसे ही जटिल प्रश्नोंके पीछे पड़कर संसारके सभी काम-काज वह छोड़ देता है। यहाँ तक कि इसकी अपेक्षा भी अनेकों बड़े-बड़े अनर्थ करने लग जाता है।

किन्तु मेरे इस अनतिसभ्य नारायण सिंहका मन उसके शरीरके मापका है। उसकी आवश्यकताके साथ उसका मन बिल्कुल 'फिट' हो जाता है। उसका मन उसके जीवनको सर्दी-गर्मी, रोग-शोक, बीमारी और लज्जासे बचाता है और उनचासों पवनके झँकोरसे उसे हर घड़ी उड़ाता नहीं रहता। यह मैं नहीं कह सकता कि एकाध बटनके छेदसे होकर, लुक-छिपकर हवा उसके भीतर प्रवेश ही नहीं करती और उसके मनको कुछ भी स्फीत नहीं कर डालती। मनका इतना स्पन्दन और इतनी चंचलता जीवनके स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

छठी बैठक

दीप्तिने कहा—सच पूछो तो, आजकल तुम लोगोंने प्रकृतिके स्तवके विषयमें बहुत ज्यादती कर दी है।

मैंने कहा—देवि ! और किसीका स्तव क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगता ?

दीप्तिने कहा—जब मैं स्तवके सिवा और कुछ नहीं पाती, तब स्तवका अपव्यय मुझसे देखा नहीं जाता।

समीरने अत्यन्त विनम्र और मधुर भावसे मुसकुराकर कहा—भगवति, प्रकृतिके स्तव और तुम लोगोंके स्तवमें अधिक अन्तर नहीं है। तुमने शायद ध्यान देकर देखा होगा कि जो लोग प्रकृति-स्तवके गान लिखा करते हैं, उनमें अधिकांश तुम्हारे ही मन्दिरके पुजारी हैं।

दीप्तिने अभिमानके साथ कहा—अर्थात् जो लोग जड़की उपासना करते हैं, वे ही हमारे भक्त हैं ?

समीरने कहा—मेरे कथनका तुमने अत्यन्त भ्रमात्मक अर्थ लगा लिया है, इसलिये मुझे कैफियत देनी होगी। हमारी भूत-सभाके वर्त्तमान सभापति श्रद्धास्पद श्रीयुक्त भूतनाथ बाबूने अपनी डायरीमें 'मन' नामक किसी उद्दण्ड प्रकृतिके जीवकी बात लिखी है। उस लेखको आप लोगोंने पढ़ा होगा। उसके नीचे ही मैंने दो-चार बातें लिखी हैं, यदि आप लोग आज्ञा दें तो पढ़ सुनाऊँ।

क्षितिने हाथ जोड़कर कहा—देखो भाई समीर, लेखक और पाठकके बीच जो सम्बन्ध होता है, वही वास्तविक सम्बन्ध है। यदि तुम अपनी इच्छाके अनुसार लिखो, मैं अपनी इच्छाके अनुसार पढ़ूँ, तब तो कोई बात ही नहीं रह जाती—जैसे मियानके साथ तलवार मिल जाती है, वैसे ही तुम्हारा हमारा मत मिल गया। किन्तु तलवार यदि किसी दूसरे अस्थि-चर्म्म निर्मित वस्तुमें, जो उसे ग्रहण करना नहीं चाहता, उसी प्रकारका गम्भीर आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टा करे, तो उसका वह सम्बन्ध उतना स्वाभाविक और सुसम्पन्न नहीं होगा। लेखक और श्रोताका सम्बन्ध भी उसी प्रकार अस्वाभाविक है। ब्रह्मासे मेरी हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि मेरे पापोंका चाहे वह कैसा ही दण्ड दें, परन्तु जन्मान्तरमें मुझे डाक्टरका घोड़ा, शराबीकी स्त्री और प्रबन्ध-लेखकका बन्धु बना कर न भेजें।

व्योमने परिहासच्छलसे कहा—एक तो बन्धु शब्दका अर्थ ही बन्धन है, उसके ऊपर यदि प्रबन्ध-बन्धनकी रस्सी गलेमें लटका दी जाय तो "गण्डस्योपरि विस्फोटक" की अवस्था हो जाय।

दीप्तिने कहा—आपके परिहासको समझनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये मुझे दो वर्षका समय दीजिये, जिससे मैं पाणिनी, अमरकोष और धातुपाठपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लूँ।

सुनकर व्योमको बहुत हँसी आयी। हँसते हुए बोले—तुमने क्या ही मार्केकी बात कही है! मुझे एक कहानी याद आ गयी।—

स्रोतस्विनीने कहा—क्या तुम लोगोंका मतलब समीरके लेखको सुनने देनेका नहीं है? समीर, तुम पढ़ो, इनकी बातोंपर ध्यान न दो।

स्रोतस्विनीकी आज्ञापर अब किसीने आपत्ति न उठायी। यहाँ तक, कि स्वयं क्षितिने ताखपरसे डायरीकी कापी लाकर रख दी और शान्त गम्भीर भावसे सुननेके लिये बैठ गये।

समीर पढ़ने लगे—मनुष्यको बाध्य होकर पद-पदपर मनकी सहायता लेनी पड़ती है। इसलिये अन्तःकरणमें हम सिर्फ उसीको देख पाते हैं। मन हमारा बहुत ही उपकार करता है, परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है, कि वह हमारे साथ कभी भी अच्छी तरह हिल-मिल नहीं सकता। सदा ही झंझलाया करता है—उपदेश करने आता है, सलाह देता है, सभी कामोंमें ही हस्तक्षेप करना चाहता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि वह पराया है और किसी प्रकार घरका आदमी हो गया है। उसका त्याग करना भी कठिन है और उसे प्यार करना भी दुस्साध्य है।

वह मानो हिन्दुस्थानियोंके देशमें अंग्रेज सरकारकी भाँति हो रहा है। हमारी प्रकृति सीधी-सादी स्वदेशी है और उसका कानून विदेशियोंकी तरह जटिल और दुर्बोध्य है। वह उपकार करता है पर आत्मीय नहीं समझता। वह भी हमें नहीं समझता और न हम ही उसे समझते हैं। हममें जो कुछ स्वाभाविक सहज शक्तियाँ थीं, उन्हें भी उसने अपनी शिक्षा द्वारा नष्ट कर दिया है। इस समय उठते-बैठते उसकी सहायता लिये बिना हमारा काम ही नहीं चलता।

अंग्रेजोंके साथ हमारे मनका और भी कई बातोंमें मिलान है। इतने दिनसे वह हमारे भीतर बास कर रहा है, पर तो भी वह वहाँका बाशिन्दा नहीं हुआ, तो भी सदा उड़-उड़कर फिरता रहता है। मानो कोई अवसर, कोई सुयोग पाते ही, महासमुद्रके उस-

पार अपनी जन्मभूमिमें निकल भागनेकी चेष्टा करेगा। उसकी सबसे बड़ी विचित्र समानता यह है, कि तुम जितना ही उसके सामने नरम होगे, झुकोगे, जितना ही तुम "जी हुजूर" खुदावन्द कह-कहकर हाथ जोड़ोगे, उतना ही उसका प्रताप बढ़ता जायगा और यदि तुम झट हाथकी आस्तीन समेट कर घुस्सा उठाओ, ईसाई धर्मकी आज्ञाकी अवहेलनाकर थप्पड़के बदले थप्पड़ लगाओ तो वह नरम हो जायगा।

मनके साथ हमारी इतनी घृणा और शत्रुता है, कि जिस काममें उसका जितना ही कम हाथ होगा, हम उसका उतना ही आदर-सम्मान और प्रशंसा कर देंगे। नीत्ति शास्त्रोंने हठकारिताकी निन्दा की है सही, पर वास्तवमें उसके प्रति हमारा आन्तरिक अनुराग है। जो आदमी बहुत विचार पूर्वक, आगे-पीछे सोचकर, बहुत सावधानीसे काम करता है, उसे हम पसन्द नहीं करते परन्तु जो आदमी सर्वदा निश्चिन्त रहता है—बिना सोचे-समझे, बिना हिचकिचाहटमें बेलगामकी बातें बक डालता है, अनायास बेरोक पाप कर बैठता है, उसे सभी पसन्द करते हैं। जो आदमी भविष्यकी ओर दृष्टि रखकर सावधानीसे अर्थ संचय करता है, उधारकी जरूरत होनेपर लोग उसके पास जाते हैं और मन-ही-मन उसकी निन्दा करते हैं, परन्तु जो मूर्ख अपने और अपने परिवारके भविष्यकी ओर न देखकर, उनके हिताहित पर ध्यान न देकर जो उपार्जन करता है, उसे तुरत दोनों हाथ खोलकर खर्च कर डालता है, लोग उसे बुलाकर कर्ज देते हैं और बहुत समय पानेकी आशा छोड़ कर देते हैं। बहुत बार विचारहीनता अर्थात् मनोविहीनताको ही हम उदारता कहते हैं और जो मनस्वी हिता-

हित ज्ञानकी अभिज्ञताके अनुसार, युक्तिका दीपक हाथमें लेकर, अत्यन्त कठिन संकल्पके साथ, नियमकी पगडंडी पर चलता है, उसे लोग कृपण, हिसाबी, विषयी, संकीर्ण-हृदयी इत्यादि अपवाद-सूचक नामोंसे पुकारा करते हैं।

जिस वस्तुको देखकर मनका अस्तित्व हम भूल जाते हैं, उसीको हम मनोहर कहते हैं। मनके बोझको जिस अवस्थामें हम अनुभव नहीं करते, उसीको कहते हैं—आनन्द। नशा खाकर पशु बन जाना—अपने हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारना हमें स्वीकार है, शराबी बनकर जेल जाना स्वीकार है, इससे हमें आनन्द होता है। एक क्षणके लिये मनके प्रभुत्वसे निकल भागनेके लिये हम सब कुछ करनेको तैयार हैं। मन यदि वास्तवमें हमारा आत्मीय होता, यदि वह हमारे साथ आत्मीयताका व्यवहार करता, तो ऐसे उपकारी व्यक्तिके प्रति हम इतनी कृतघ्नता करने क्यों जाते, उसका अस्तित्व लोप करने ही पर उतारू क्यों हो जाते ?

बुद्धिकी अपेक्षा प्रतिभाको ही हम ऊँचा स्थान क्यों देते हैं ? बुद्धि प्रतिदिन, प्रति मुहूर्त्त हमारे सैकड़ों कामोंमें अन्याय करती है, उसके बिना हमारा जीवन-धारण करना कठिन हो जाता है और प्रतिभा कभी-कभी हमारे किसी काम आती है और अधिक समय उससे हमें कोई उपकार ही नहीं मिलता, परन्तु बुद्धिका सम्बन्ध मनसे है, उसे कदमके बाद कदम, फूक-फूक और गिन-गिनकर रखने पड़ते हैं, और प्रतिभा मनकी नियमावलीके अनुसार न चलकर हवाकी तरह आती है और चली जाती है, किसी आह्वान और निषेधकी अपेक्षा नहीं करती।

प्रकृतिके भीतर मन नहीं है, इसलिये प्रकृति हमारे निकट

इतनी सुन्दर—इतनी मनोहर प्रतीत होती है। प्रकृतिमें एकके भीतर दूसरी कोई चीज नहीं है। हाथीके कंधे पर बैठे हुए महावतकी तरह अपनी इच्छाका दास बनाने वाली कोई चीज प्रकृतिमें नहीं है। मिट्टीसे लेकर इस ज्योतिर्मय आकाश तककी प्रकृतिकी विशाल गृहस्थलीमें कोई परदेशी दुष्ट बालक प्रवेश करके दुष्टता नहीं करने पाता।

वह अकेली, अखण्ड, सम्पूर्ण, निश्चिन्त और निरुद्विग्न है। उसके असीम नील ललाट पर कुञ्चिकी रेखा तक भी नहीं है। केवल प्रतिभाकी ज्योति सदैव देदीप्यमान हो रही है। जैसे अनायास एक सर्वाङ्ग सुन्दरी पुष्प मंजरी विकसित होती है, वैसे ही एक प्रचण्ड झंझावात उसकी अवहेलना करके—धोखा देकर उसे सुख-स्वप्नकी तरह तोड़-मरोड़ कर चला जाता है। सभी मानो अपने आप स्वेच्छापूर्वक हो रहा है, उसमें चेष्टा और प्रयासका स्थान नहीं। वह इच्छा कभी आदर करती है, कभी आघात करती है, कभी प्रियतमा अप्सराकी तरह गान करती है, तो कभी क्षुधित राक्षसीकी तरह गर्जन करती है।

चिन्ता—पीड़ित संशयपन मनुष्योंमें यह द्विधा-रहित अव्यवस्थित इच्छा शक्ति एक बहुत ही बड़ा आकर्षण रहता है। राजभक्ति प्रभुभक्ति आदि इसके दृष्टान्त हैं। जहाँ राजा, प्रजाका प्राण इच्छापूर्वक ले और अपना दे भी सकता है, उस राज्यमें राजाके लिये जितने मनुष्योंने प्राण दिये हैं और देते हैं, उस प्रकार आजकलके नियम-पाश-बद्ध राजाओंके लिये जान देनेमें स्वेच्छापूर्वक प्रजा अग्रसर नहीं होती।

जो लोग मनुष्य-जातिके नेता होकर अवतीर्ण होते हैं, उनका

मन दिखलाई नहीं देता। वह लोग क्यों, क्या सोचकर, किस विचारके अनुसार, कौन काम करते हैं ; यह एकाएक उनके कामों से समझमें नहीं आता। तथापि लोग अपनी संशय तिमिराच्छन्न छोटी गुफासे बाहर निकलकर पतंगकी तरह उनकी महत्व शिखा पर कूदकर अपना प्राण देते हैं अर्थात् उन महात्माओंके सिद्धान्तों को बिना समझे-बूझे ग्रहणकर अपनी चिन्ता-शक्तिको कुचल डालते हैं – तब न इधरके होते हैं और न उधरके।

स्त्री भी प्रकृतिके समान ही है। मनके बीचमें आकर उसके दो टुकड़े नहीं कर दिये हैं। पुष्पकी तरह आदिसे अन्त तक वह एक रूप है। इसलिये उसकी गति और आचार-व्यवहारमें ऐसी सम्पूर्णता है। इसलिये संशयाच्छन्न पुरुषोंके लिये स्त्रियां 'मरणं ध्रुवं' प्रतीत होती हैं।

प्रकृतिकी तरह रमणीमें भी केवल इच्छा-शक्ति है। उसके भीतर युक्ति, तर्क, विचार, आलोचना कुछ भी नहीं है। कभी वह दोनों हाथोंसे अन्न दान करती है और कभी प्रलय-मूर्तिकी तरह संहार करती है। भक्त लोग हाथ जोड़कर कहते हैं—तुम्हीं इच्छामयी, तुम्हीं प्रकृति, तुम्हीं सब कुछ हो।

समीर दम लेनेके लिये जरा रुके ही थे कि दीप्तिने गम्भीर भावसे कहा - वाह ! खूब किया, कमाल किया। परन्तु कसम खाकर कहता हूं कि एक शब्द भी मैंने समझा नहीं, मैं समझता हूं, तुम जिसे मन और बुद्धि कहते हो, प्रकृतिके समान मुझमें भी उनका अभाव है ; परन्तु मेरी तो किसीने भी प्रशंसा नहीं की। तुममें प्रतिभा विद्यमान है और मुझमें आकर्षण-शक्ति है। इसका भी तो मैंने कभी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाया है।

दीप्तिने समीरसे कहा—तुम तो मुसलमानोंकी तरह बातें करते हो। उन्हींके शास्त्रोंमें लिखा है कि स्त्रियोंमें आत्मा नहीं हैं।

स्रोतस्विनी चिन्तान्वित होकर बोली—मत और बुद्धिको यदि तुमलोग एक ही अर्थमें व्यवहार करो और यह कहो कि हम उसीसे वंचित हैं, तो तुम्हारे साथ मेरा मत मिलनेका नहीं।

समीरने कहा—मैंने जो बात अभी कही है, उसपर पूरी तरहसे तर्क नहीं किया जा सकता। पहले वर्षमें गङ्गाकी बाढ़ बालूकी जो दीवार बना गई थी, उसपर पहले इतनी बालू थी कि हलसे जोतना कठिन था, परन्तु पीछे ज्यों-ज्यों वर्षा होती गई, उसपर मिट्टी पड़ी और वह दीवार जोतने लायक हुई। उसी प्रकार मैंने भी अपनी बातचीतके धारा-प्रवाहमें—सिलसिलेमें एक ऐसी बात खड़ी कर दी है। हो सकता है, कि दूसरी बाढ़में वह हट जाय और यह भी हो सकता है, कि फिरसे लगातार उस पर मिट्टी पड़ती जाय और वह उर्वरा हो जाय। चाहे कुछ भी हो, पहले असामीकी सभी बातें सुन ली जायें, तब उसका विचार हो।

मनुष्यके अन्तःकरणमें दो विभाग होते हैं:—एक भाग अचेतन, वृहत्, गुप्त और निश्चेष्ट होता है और दूसरा सचेतन सक्रिय, चञ्चल और परिवर्त्तनशील होता है। जैसे महादेश और महा-समुद्र। समुद्र चञ्चल-भावसे जो कुछ जाता है, उसे त्याग देता है और वही गुप्त पृथ्वीतलमें एकत्र होकर दृढ़ और निश्चल आकार धारण करता जाता है। इसी प्रकार हमारी चेतना प्रतिदिन जो कुछ लाती है, उसे फेंक देती है और वहीं संस्कार, स्मृति, अभ्यास आदिके आकारमें किसी गूढ़ आधारका अवलम्बन करके अचेतन

रूपमें राशिकृत होते जाते हैं। वह हमारे जीवन और चरित्रकी स्थायी भित्ति है—आधार है। तह-पर-तह खोलकर कोई देखने नहीं जाता। ऊपरसे जो कुछ दिखलाई पड़ता है अथवा आकस्मिक भू-कम्पोंसे जो गुप्त अंश बाहर निकल पड़ता है, उसीको हम देख पाते हैं।

इस महादेशमें ही शस्य फूल, फल, सौन्दर्य और जीवन सहज ही उद्भिन्न—उद्भासित हो उठता है। यह देखनेमें स्थिर एवं निष्क्रिय प्रतीत होता है, किन्तु इसके भीतर एक सहज निपुणता—एक गूढ़ जीवनी-शक्ति, गुप्त भावसे काम कर रही है। समुद्र गोल और सम्पूर्ण हो जाता है। उसमें उत्तरोत्तर जितना ही पद और तान तोड़ते जाओ, पर सममें (ताल) आकर सभी एक गोल और पूर्ण रेखाके द्वारा घिर जाता है। बीचमें एक स्थिर केन्द्रको अवलम्बन करके वृत्त अपनी परिधिको बढ़ाये जाता है। इसलिये आस-पास जितनी चीजें होती हैं, उन सभीको वह बड़ी निपुणताके साथ अपने भीतर खींच लेता है।

यह केन्द्र—जितनी मैंने बात कही है, बुद्धि नहीं है। यह एक स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति है। यह एक ऐक्य बिन्दु है। मन नामक पदार्थ ज्योंही इसके भीतर आकर झांकता है, त्योंही यह सुन्दर ऐक्य छिन्न-विच्छिन्न होकर सैकड़ोंमें बँट जाता है।

व्योम अधीर होकर एकाएक बोल उठे—तुम जिसे ऐक्य कहते हो, उसीको मैं आत्मा कहता हूं। उसका धर्म ही यह है कि पाँच वस्तुओंको अपने चारों ओर खींचकर एक साँचेमें ढाल लेता है। और जिसे तुम मन कहते हो, वह अपने-आप पाँचों वस्तुओंकी

ओर खींचा जाकर अपनेको और उनको (पाँचोंको) तोड़-फोड़ डालता है।

इसलिये नीतिकारोंने कहा है कि आत्म-योगका प्रथम सोपान है—मनोनिरोध-मनको रोकना।

समीरने अंग्रेजोंके साथ मनकी जो तुलना की थी, वह यहाँ भी लागू है। अंग्रेज आगे बढ़कर सभी चीजोंको ही धर पकड़ता है। किसीने भी उसका अन्त नहीं पाया। सुनता हूं, सूर्य भी न पा सके। वह भी उनके राज्यमें उदय होकर आज तक अस्त नहीं हुए। और हमलोग आत्माकी तरह केन्द्रीभूत हो गये हैं। हमलोग हरण करना—जबर्दस्ती छीन लेना नहीं चाहते; बल्कि चारों ओर की चीजोंको घनिष्ठतापूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करके संगठित कर लेना चाहते हैं। इसलिये हमारे समाजमें, हमारे गृहमें और हमारी व्यक्तिगत जीवन-यात्रामें एक गठनके रचनाकी निविड़ता और घनिष्ठता देखी जाती है। आहरण करना मनका काम है और आत्माका काम है सृजन करना।

योगके सभी तथ्योंको तो मैं नहीं जानता, पर सुनता हूँ कि योगी लोग योग-बलसे सृष्टि कर सकते हैं। प्रतिभाकी सृष्टि भी इसी प्रकारकी है। कवि लोग अपनी स्वाभाविक-शक्तिके प्रभावसे मनको रोककर अर्द्ध-अचेतनावस्थामें आत्माके किसी आकर्षणसे भाव, रस, दृश्य, वर्ण, ध्वनि इत्यादि काव्य-सामग्रियोंको एकत्र कर लेते हैं और उन्हें जीवन-सृष्टिके उपयोगमें लाते हैं।

बड़े-बड़े लोग बड़े-बड़े काम करते हैं, वह भी इसी प्रतिभाका फल है। किसी दैव-शक्तिके आकर्षणसे सभी चीजें अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानपर निविड़-भावसे सम्बद्ध हो जाती हैं, जरा भी

व्यवधान नहीं रहता। इस सम्मिलनका परिणाम एक सुसम्पन्न और सम्पूर्ण कार्य-रूपमें प्रकट होता है। प्रकृतिके मन नामक सबसे छोटे दुष्ट लड़केको मार-पीटकर एकदम निकाल-बाहर नहीं कर दिया जाता, बल्कि वह भी रहता है; परन्तु अपनी अपेक्षा उच्चतर एवं महत्तर प्रतिभाके अमोघ माया-मन्त्रसे मुग्ध होकर वह काम किये जाता है। मालूम होता है कि सभी जादूके प्रभावसे होता है—मानो सभी घटनाएँ, सभी अवस्थाएँ भी योग-बलसे अनायास यथास्थान विन्यस्त होती जाती हैं। गेरीबाल्डीने भी इसी प्रकार तहस-नहस इटलीको नये सिरेसे संगठित और प्रतिष्ठित किया था। वाशिंगटन भी इसी प्रकार अरण्य पर्वत-विशिष्ट अमेरिकाको अपनाकर—एकत्र कर साम्राज्यके रूपमें संगठित कर गये थे। इन कार्योंमें प्रत्येक एक-एक योग-साधन है।

कवि जैसे काव्यकी रचना करता है, तानसेन जैसे तान, सुर, छन्दसे गानकी रचना करता है, रमणी वैसे ही अपने जीवनकी रचना करती है। ठीक वैसी ही अचेतनावस्थामें, ठीक वैसे ही माया-मन्त्रके प्रभावसे—पिता-पुत्र, भाई-बहन और अतिथि-अभ्यागतोंको वह सुन्दर-शोभन बन्धनमें बाँधकर उसे अपने चारों ओर संगठित और सुसज्जित कर डालती है। विचित्र उपकरण लेकर अपने निपुण और योग्य हस्तों द्वारा गृह-निर्माण करती है—घर ही नहीं बनाती, बल्कि जहाँ जाती हैं; वहींसे अपने चारों ओरकी चीजोंको सौन्दर्य-संयमसे बाँध डालती है। अपने चाल-चलन, रहन-सहन, बात-चीत और भाव-भंगीको एक विचित्र साँचे में ढाल देती है, इसीको 'श्री' कहते हैं। यह काम बुद्धिसे होनेका नहीं; यह काम प्रतिभाका है। मनकी शक्तिसे नहीं, बल्कि

आत्माकी गूढ़ और अभ्रान्त-शक्तिसे यह सम्पादित हो जाता है। गायकका सुर, कविका शब्द और कर्मीका कार्य—सब अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान और समयपर सुचारु-रूपसे सुसम्बद्ध और सुसम्पन्न होते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि गूढ़-शक्ति—जिसे आप प्रतिभा कह सकते हैं, गुप्त रूपसे इनके भीतर काम कर रही है। यह प्रतिभा पर्वतके झरनेकी तरह निखिल विश्व-भूमिके केन्द्रसे स्वाभाविक रूपसे निकलती है। उसके केन्द्रको अचेतन न कहकर अतिचेतन कहना चाहिये।

प्रकृति—जिसे सौन्दर्य कहते हैं, वही महापुरुषों और गुणियों में प्रतिभा कहलाती है। नारीकी वही श्री—सतीत्व है। पात्र-भेद से उस एक ही शक्तिका भिन्न-भिन्न रूपसे विकास होता है।

इसके बाद व्योम समीरकी ओर देखकर बोले—इसके बाद ? तुम अपने लेखको सुना डालो।

समीरने कहा—अब कोई जरूरत नहीं। मैंने जो आरम्भ किया था, तुमने एक प्रकारसे उसका उपसंहार कर दिया।

क्षितिने कहा—कविराज महाशयने सुश्रूषा आरम्भ की और डाक्टर महाशय अन्त कर गये। अब हम रामका नाम लेकर विदा होएँ। मन क्या है, बुद्धि क्या है और सौन्दर्य तथा प्रतिभा ही क्या हैं इत्यादि तत्त्व आज तक मेरी समझमें आए ही नहीं। आशा थी कि कभी-न-कभी इनका रहस्य समझ सकूँगा। परन्तु आज उस आशासे भी हाथ धोने पड़े।

उलझे हुए धागेको सुलझानेके लिये जैसे बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे उसे खोलना पड़ता है, स्रोतस्विनी भी वैसे ही चुपचाप

बैठी हुई मन-ही-मन बातको सुलझा रही थी—समझनेकी चेष्टा कर रही थी।

दीप्ति भी चुपचाप बैठी थी। समीरने उससे पूछा—क्या सोचती हो?

दीप्तिने कहा—भारतीय नारियोंके प्रतिभा-बलसे भारतीय सन्तानों-जैसी अद्भुत सृष्टि किस प्रकार हुई, यही मैं सोच रही हूं। अच्छी मिट्टी होनेसे ही सब समय अच्छी शिव-मूर्त्ति होती है, ऐसी बात नहीं।

सातवीं बैठक

मैंने कहा—कवियोंका कहना है कि वंशीकी ध्वनि और पूर्णिमाकी चाँदनीमें पुरानी स्मृति जाग उठती है; परन्तु किसकी स्मृति—इसका कोई ठिकाना नहीं। संसारमें इतने नाम होते हुए भी मैं एक निराकार अनिर्दिष्ट वस्तुको स्मृति कहने क्यों जाऊँ? क्यों न मैं उसीको विस्मृति कहकर पुकारूँ? किन्तु "विस्मृति जाग उठती है।" ऐसा वाक्य व्यवहार करें, तो वह बहुत असंगत प्रतीत होगा। किन्तु यह वाक्य भी एकबारगी अर्थहीन नहीं है। अतीत जीवनकी सैकड़ों-हजारों स्मृतियाँ अपनी-अपनी स्वतन्त्रता, अपनी-अपनी विशेषताओंको परित्याग कर, एक-में-एक इस तरह गुँथ गई हैं कि उनको भिन्न-भिन्न करके पहचानना कठिन हो गया है। हमारे हृदयके चेतन-महादेशको चारों ओरसे घेरकर इन विस्मृतियोंका महासमुद्र नीरव गम्भीर भावसे सोया पड़ा है। परन्तु कभी-

कभी यह विस्मृति-सागर चन्द्रोदय और दक्षिणी वायुसे चञ्चल-क्षुब्ध हो जाता है और चिन्ताकी लहरें उठने लगती हैं। तब हमारा चेतन-हृदय इन विस्मृतियोंके आघात-प्रतिघातको अनुभव करता है—उनका (विस्मृतियोंका) रहस्यपूर्ण अगाध अस्तित्व उपलब्ध हो जाता है—इस महाविस्तृत, अतिविस्तृत विपुलताकी एक क्रन्दन-ध्वनि सुन पड़ती है।

श्रीमती क्षिति मेरे इस आकस्मिक भावोच्छ्वासको सुनकर अपनी हँसी न रोक सकीं। बोलीं—भैया, क्या उत्पात मचा रहे हो? समय रहते चुप हो जाओ। कविता छन्द (पद्य) में ही सुननेमें अच्छी लगती है। वह भी अब समय नहीं, किन्तु सरल गद्यमें यदि तुमलोग पाँचों जने मिलकर कविता मिलाते जाओ, तो यह (गद्य) प्रतिदिनके व्यवहारके योग्य न रह जायगा। दूधमें जल मिलानेसे काम चल सकता है, परन्तु जलके साथ यदि दूध मिलाया जाय, तो उससे प्रात्यहिक स्नान-पानका काम नहीं चल सकता। कविताके भीतर किञ्चित् परिणाममें गद्य मिला देनेसे मेरे-जैसे गद्यजीवी लोगोंके लिये हजम करना—समझना सरल हो जाता है, परन्तु गद्यके साथ पद्य मिलाया कि हमारी बुद्धि हवा खाने चली गई।

बस! मनकी बात हटाइये। शरत-प्रभाके नवीन भावाङ्कुरको मेरी सखी क्षितिने अपनी तेज खुरपीसे जड़से खोदकर बाहर निकाला है। किसी तर्ककी बातका सहसा विरोध करते देखकर मनुष्य उतना असहाय नहीं हो जाता, जितना भावकी बातमें बाधा पड़नेपर वह शक्तिहीन और हतबुद्धि हो जाता है। क्योंकि भावकी बातमें श्रोताकी सहानुभूतिका ही

एकमात्र अवलम्बन रहता है। श्रोता यदि बोल उठे, क्या पागल-पन कर रहे हो, तो भावुक किसी युक्तिशास्त्रमें उसका उत्तर खोज कर नहीं पायेगा।

इसीलिये भावसम्बन्धी किसी बातकी अवतारणा करते समय पुराने ज़मानेके भावुक लोग पहले श्रोताके हाथ-पैर पकड़कर तब अपना वक्तव्य आरम्भ करते थे। वह कहते थे—"बुद्धिमान लोग हँसोंकी तरह नीरको त्यागकर क्षीर ग्रहण करते हैं।" अपनी अयोग्यता स्वीकार कर सभासदोंकी गुण-ग्राहितापर अपना सभी आशा-भरोसा छोड़ देते थे। कभी भवभूतिकी तरह अत्यन्त अहंकारके साथ शुरूसे ही सभी लोगोंको अभिभूत कर लेनेकी चेष्टा करते थे। यह सब कुछ करके भी अन्तमें उपसंहार करते समय अपनेको लाखों-लाख धिक्कार देते हुए कहते थे, कि जिस देशमें शीशा और मुक्ताका एक ही दर है, उस देशसे कुछ आशा नहीं की जा सकती। देवतासे प्रार्थना करते—"हे चतुरानन, पापका फल चाहे जो भी दो; सहने को तैयार हूँ, किन्तु अरसिकके सामने रसकी, भावकी कथा कहना मेरे भाग्यमें न लिखना, कदापि न लिखना।" वास्तवमें ऐसा दण्ड कोई दूसरा नहीं है। संसारमें अरसिक ही न रहने पावें, इतनी बड़ी प्रार्थना देवतासे नहीं की जा सकती है, क्योंकि ऐसा होनेसे पृथ्वीकी जनसंख्यामें बड़ी भारी कमी पड़ जायगी। अरसिकोंके द्वारा ही संसारके अधि-कांश कार्य्य सम्पादित होते हैं, वे लोग जनसमाजके लिये अत्यन्त आवश्यकीय हैं। उनके बिना सभा बन्द हो जायगी, कमिटी शक्तिहीन हो जायगी और संवादपत्रोंको चुप्पी साध लेनी पड़ेगी। समालोचकोंकी रोजी मारी जायगी। इसीलिये उनके प्रति

हमारा विशेष सम्मान है। परन्तु तेलीके कोल्हूमें सरसों डालनेसे तेल निकलता है, इसलिये यदि कोई चाहे कि उसमें फूल डालकर उससे मधु निकाल लें, तो यह कदापि सम्भव नहीं। इसलिये हे चतुराानन! कोल्हूको संसारमें सदा रखे रहो, पर उसमें कभी फूल न डालना और न गुणियोंका हृत्पिण्ड उसमें छोड़ देना।

श्रीमती स्रोतस्विनीका कोमल अन्तःकरण सर्वदा निर्बलका पक्ष समर्थन करता है। उन्होंने मेरी दुरवस्था पर कुछ विचलित होकर कहा—क्यों ? क्या गद्य और पद्यका विच्छेद वास्तवमें इतना बड़ा है ?

मैंने कहा—गद्य अन्तःकरण है और पद्य बाहरी बैठका है। दोनोंका स्थान भिन्न-भिन्न दिर्दिष्ट किया हुआ है। अबला बाहर निकलकर घूमने-फिरनेसे आपदमें ही जा पड़ेगी, ऐसी कोई बात नहीं; परन्तु कोई निष्ठुर हृदय मनुष्य यदि उसे काई कड़ी बात कहे और अपमान करे तो उसे रोनेके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं। इसीलिये अन्तःपुर ही स्त्रीके लिये निरापद दुर्ग है। पद्य, कविता वही अन्तःपुर है। छन्दके प्राचीरमें सहसा उसे कोई आक्रमण नहीं कर सकता। प्रात्यहिक और व्यक्तिगत भाषासे स्वतन्त्र उसने अपने लिये एक दुरारोह, साथ ही साथ सुन्दर सीमाकी रचना की है। अपने हृदयके भावको यदि उसी सीमाके भीतर प्रतिष्ठित कर पाता तो क्षिति क्या, किसी क्षिति-पतिकी सामर्थ्य न थी कि एकाएक सामने आकर उसकी हँसी उड़ा जाता।

व्योम गड़गड़ेका नल मुखसे निकालकर आखें खोलकर बोले—मैं एकेश्वरवादी हूं। केवल गद्यके द्वारा ही हमारी सभी

आवश्यकतायें पूरी हो जा सकती थीं। बीचमें पद्य आकर मनुष्यके मनोराज्यमें एक अनावश्यक विच्छेद उपस्थित कर देता है। उसने कवि नामक एक स्वतन्त्र जातिकी ही सृष्टि की है। जब किसी विशेष सम्प्रदायके हाथमें जन-जनसाधारणकी सम्पत्ति चली जाती है, तब उस सम्प्रदायकी सर्वदा यही चेष्टा होती है; कि वह सम्पत्ति किसी दूसरेके अधिकारमें न चली जाये—नहीं तो उसके स्वार्थकी हानि होगी। कवि लोग भी भावके चारों ओर कठिन बाधायें खड़ी करके कवित्व नामक एक नये पदार्थकी उत्पत्ति कर डालते हैं। कौशल-विमुग्ध जन-साधारण के आश्चर्य्यका वारापार नहीं रहता। उनका स्वभाव इतना विकृत हो जाता है कि जबतक छन्द और तुकोंके द्वारा धनकी मार नहीं पड़ती, तब तक उनका होश ही नहीं टिकाने आता। स्वाभाविक सरल भाषाको छोड़कर भावको पंचरंगा वेश धारण कराना पड़ता है, बहुरूपी बनना पड़ता है। भावके लिये इससे बड़ी हीनता की—लज्जाकी बात कोई दूसरी नहीं हो सकती। सुनते हैं कि पद्यका आविष्कार वर्त्तमान युगमें हुआ है, इसीलिये तो वह सर्वदा मोरकी तरह पंख फैला-फैला कर नाचा करता है। मैं उसे देखना भी नहीं चाहता। इतना कहकर व्योम फिर गड़गड़ेका नल मुखमें लगाकर तम्बाकू पीने लगा।

श्रीमती दीप्तिने व्योमकी ओर अवज्ञापूर्ण दृष्टि डालकर कहा—विज्ञानमें प्राकृतिक निर्वाचन नामक एक तत्त्वका आविष्कार हुआ है। यह प्राकृतिक निर्वाचनका नियम केवल जन्तुओं में ही नहीं पाया जाता, बल्कि मानव-प्रकृतिमें भी पाया जाता है। यह प्राकृतिक निर्वाचनका ही प्रभाव है कि मयूरीको कलापकी

आवश्यकता ही नहीं पड़ी और मयूर पुच्छोंसे बिल्कुल ढक गया। कविताका डैना भी उसी प्राकृतिक निर्वाचनका फल है, यह कवियों-का षड्यन्त्र नहीं है। क्या असभ्यसे लेकर सभ्य देशों तकमें ऐसा कोई स्थान है, जहाँ कवित्व स्वाभाविक रूपसे छन्दोंके भीतर विकसित नहीं हो पाया है ?

श्रीयुक्त समीर इतनी देर तक चुपचाप बैठे हुए मुस्करा रहे थे और ध्यान देकर इस तर्क-वितर्कको सुन रहे थे। दीप्तिने जब हमारे वाद-विवादमें साथ दिया, तब उनके मनमें एक विचार उठा। उन्होंने बात छेड़ दी। उन्होंने कहा—कृत्रिमतामें ही मनुष्यकी सबसे अधिक बड़ाई है। मनुष्यको छोड़ किसी दूसरेमें कृत्रिम होनेकी शक्ति ही नहीं—ईश्वरने किसी दूसरेको यह अधिकार ही नहीं दिया। वृक्षको अपने पल्लव बनाने नहीं पड़ते, आकाशको अपनी नीलिमा गढ़नी नहीं पड़ती। मयूरके पंखको प्रकृति स्वयं गढ़ देती है। केवल मनुष्यको ही विधाताने अपने सृजन-कार्य्यका 'ऐप्रेण्टिस' रख छोड़ा है। उसके ऊपर छोटी-मोटी सृष्टिका भार दिया है। इस कार्य्यमें जो जितनी ही दक्षता दिखाता है, उतनी ही उसकी धाक बढ़ती जाती है। पद्य-गद्यकी अपेक्षा अधिक कृत्रिम है सही, परन्तु उसमें मनुष्यकी कारसाजी अधिक है। उसीने उसमें अधिक रंग दिया है। उसीको अधिक परिश्रम करना पड़ा है। हमारे मनमें वह विश्वकर्म्मा निवास करते हैं, जो हमारे अन्तःकरणके निभृत सृजन-कक्षमें बैठे-बैठे नाना प्रकारकी रचनायें, नाना प्रकारके विन्यास, नाना प्रकारके प्रयास और नाना प्रकारकी प्रकाश-चेष्टायें उत्पन्न करते हैं, पद्यमें उनके निपुण हस्तोंका अधिक परिचय पाया जाता है। इसीमें

वह सबसे अधिक गौरव अनुभव करता है। जल-कल्लोलकी भाषा अकृत्रिम है और पल्लव मर्म्मरकी भाषा भी अकृत्रिम है,परन्तु जहाँ मन निवास करता है, वहाँ बहुत परिश्रमसे कृत्रिम भाषा चली गई है।

स्रोतस्विनी शान्त-स्वभावा छात्रीकी तरह समीरकी सभी बातें सुन गयीं, सुनकर उनके सुन्दर नम्र ललाट पर एक आभा झलक पड़ी। दूसरे दिन अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करते समय जिस तरह वह इतस्ततः किया करतीं, आज वैसा न कर निधड़क कहने लगीं,—समीरकी बात सुनकर मेरे मनमें एक विचार उठा है। मैं नहीं कह सकती हूँ, कि उसे व्यक्त करनेमें मैं कहाँ तक सफल होऊँगी। सृष्टिके जिस अंशके साथ हमारे हृदयका संयोग है,अर्थात् सृष्टिके जिस अंशसे हमारे मनमें सिर्फ ज्ञानका उदय ही नहीं होता, बल्कि हृदयमें भावका भी संचार हो जाता है (जैसे फूलके सौंदर्य्य और पर्वतके महत्त्वसे बहिर्ज्ञान प्राप्त होता है, साथ ही एक भाव भी उदय होता है)। उस अंशमें न जाने कितनी निपुणता दिखलानी पड़ती है, कितना ही रंग ढालना पड़ता है और कितनी ही धूम-धाम और आयोजनकी आवश्यकता पड़ती है। फूलकी हरेक पंखड़ीको न जाने कितने परिश्रमसे गोल-गाल और चिकना-चुपड़ा बनना पड़ता है और वृक्षके ऊपर न जाने कितनी सुन्दर बंकिम भाव-भङ्गीके साथ उसे खड़ा करना पड़ता है, पर्वतके सिरपर तुषार मुकुट पहना कर उसको नीलाकाशमें कितने गौरव और महत्त्वके साथ प्रतिष्ठित करना पड़ता है, पश्चिमी समुद्रके किनारे सूर्य्यास्तके पीत पटके ऊपर न जाने कितने रंग झलकाने पड़ते हैं—कितनी कारीगरी दिखानी पड़ती है। पृथ्वीसे लेकर आकाश तक कितनी सज-धज,

कितने रूप-रंग और कितनी भाव-भङ्गी चित्रित, सुशोभित और मण्डित करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर हमारे जैसे क्षुद्र मनुष्योंका मन भरता है—सन्तुष्ट होता है। ईश्वरने अपनी रचनामें जहां प्रेम, सौंदर्य्य और महत्त्व प्रकट किया हैं, वहां उन्हें भी कारीगरी करनी पड़ी है, वहां उन्हें भी ध्वनि और छन्द, वर्ण और गन्धोंका बड़े परिश्रमके साथ विचित्र संयोग करना पड़ा है। जङ्गलमें जो फूल खिला है, उसे भी न जाने फूलकी कितनी ही पखड़ियोंके अनुप्रासले अलंकृत करना पड़ा है और आकाशपटपर सिर्फ एक ही ज्योति-शिखाको प्रकट करनेमें उसे कितने निर्दिष्ट और सुसंयत छन्दोंकी रचना करनी पड़ी है। वैज्ञानिक लोग आजतक इसको स्थिर ही नहीं कर सके। भावको प्रकट करते समय मनुष्यों को नाना प्रकारके कौशलोंका अवलम्बन करना पड़ता है—शब्दमें संगीत लाना पड़ता है, तभी मनकी बात, मनमें जाकर जगह बना पाती है। इसे यदि कृत्रिमता कहते हैं, तो सारा संसार ही कृत्रिम है।

इतना कहकर स्रोतस्विनी मेरी ओर देखने लगीं, मानों मुझसे सहायता मांग रही थीं। उनके नेत्रोंकी चञ्चलतासे यही प्रकट होता था कि मानों वह कह रही हैं—इतनी देर तक न जाने मैं क्या अंड-बंड बक गयी। इसीको तुम जरा साफ करके समझा देते तो अच्छा होता। इतनेमें व्योम एकाएक बोल उठे—बहुतोंका ऐसा भी मत है, कि समस्त संसार ही कृत्रिम है। स्रोतस्विनी जिस भावकी अभिव्यक्ति प्रकट करती हैं (जैसे दृश्य, छन्द, शब्द और गन्ध इत्यादि) वह तो मायामात्र है। अर्थात् हमारे मनकी रचना कृत्रिम है, इस बातको अस्वीकार करना और झूठ साबित करनेकी चेष्टा करना बड़ा कठिन है।

क्षिति बहुत ही क्रुद्ध होकर बोली—तुम लोग विषयसे बाहर होते-जाते हो। प्रश्न था कि भाव प्रकाशके लिये पद्यकी कोई आवश्यकता है या नहीं। तुम लोग इस विषयको छोड़कर समुद्रके उस पारके सृष्टितत्त्व, लयतत्व, मायावाद आदि.... में फँसते जा रहे हो। मेरा विश्वास है, कि भाव-प्रकाशके लिये छन्दोंकी सृष्टि नहीं हुई। छोटे-छोटे बच्चे लाचारी बहुत पसन्द करते हैं ; उसके भावमाधुर्यके कारण नहीं बल्कि उसके छन्दकी तुकबन्दीके कारण। इसी तरह जबतक हम असभ्यावस्थामें थे, तबतक अर्थ हीन वाक्योंके झंकार मात्रसे ही मुग्ध हो जाया करते थे। इसीलिये लोगोंने सबसे पहले निरर्थक लाचारियोंको बनाया। यही उसकी सर्व प्रथम कविता हुई। मनुष्य जातिकी क्रमशः ज्यों-ज्यों उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों वह छन्दके साथ अर्थका संयोग करता जाता है। उसकी रुचि-परिवर्त्तन होनेके कारण लाचारी उसे अधिक दिन तक तृप्त नहीं कर सकती। किन्तु वयोवृद्धिके होते हुए भी कभी-कभी मनुष्यके भीतर किसी गुप्त छायामय स्थानमें बालक अंश बचा रह जाता है। ध्वनिप्रियता, छन्दप्रियता वही गुप्त स्वभाव है। हमलोगोंका वयोवृद्ध अंश अर्थ और भाव चाहता है, हमलोगोंका अपरिणत अंश ध्वनि और छन्द पसन्द करता है।

दीप्तिने गर्दन टेढ़ी कर कहा—सौभाग्यकी बात है कि हमारे सभी अंश वयोवृद्ध नहीं हो पाये। मनुष्यके नाबालिग अंशको मैं हृदयसे धन्यवाद देती हूँ। उसीके कारण संसारमें थोड़ी-बहुत मधुरता है।

समीरने कहा—जो मनुष्य एकदम पक गया है, वह संसारका

बड़ा लड़का है। किसी प्रकारके खेल-कूद, किसी प्रकारका लड़कपन उसे नहीं भाता। हमारी आधुनिक हिन्दू जाति पृथ्वीमें सबसे बड़ी और पुरानी जाति है। वह हदसे ज्यादा अभिज्ञताकी डींग मारती है, पर वास्तवमें अनेक विषयोंमें अब भी वह कच्ची है। बड़े लड़के और बूढ़ी जातिकी उन्नति होनी कठिन है; क्योंकि उसके हृदयमें नम्रता नहीं है। मेरी यह बात गोपनीय है कहीं इसे प्रकट न करियेगा। आजकल लोगोंकी प्रकृति बदल-सी गयी है।

मैंने कहा—जब कलकी चक्की चलाकर शहरोंके रास्ते मरम्मत किये जाते हैं, तब उनके सामने लिखा रहता है—खबरदार ! गाड़ी चलती है ! मैं क्षितिको पहले ही से सावधान कर देता हूँ। वाष्पयानको वह सबसे अधिक भय की दृष्टिसे देखती हैं, किन्तु उस कल्पनाके वाष्पयन्त्रको ही मैं अधिक सुगम और परिचित समझता हूँ। गद्य और पद्यके प्रसंगमें एक और मनचली रागिनी अलापूँगा—इच्छा हो तो सुनो।

गतिके भीतर एक बहुत ही पारिमाणिक नियम है। पेण्डुलम एक नियमित चालसे हिलता-डोलता रहता है। चलते समय मनुष्यके पैर समान भावसे पड़ते हैं और उन्हींके साथ मनुष्यका सारा अंग-प्रत्यङ्ग समान भावसे हिलता-डोलता हुआ गतिकी सामञ्जस्य-रक्षा करता है। समुद्रके तरंगमें भी एक बड़ा भारी लय-ताल है। यह पृथ्वी एक महाछन्दके अनुसार सूर्य्यकी प्रदक्षिणा करती है।

व्योमचन्द्र बीचमें ही मेरी बात काट कर कहने लगे—स्थिति ही वास्तवमें स्वाधीन है, वह अपनी अचल गम्भीरतामें विराजती है। किन्तु गतिको प्रत्येक पदपर एक नियमके अधीन होकर

चलना पड़ता है—वह नियमकी पाबन्द है। तथापि जन साधारणमें एक भ्रान्त संस्कार, एक भ्रान्त धारणा—उत्पन्न हो गयी है, कि गति ही स्वाधीनताका वास्तविक स्वरूप है और स्थिति एक विशेष बन्धन है। इसका कारण यह है कि इच्छा मनकी एकमात्र गति है और इच्छाके अनुसार चलनेको ही मूर्ख लोग स्वाधीनता कहते हैं। किन्तु हमारे देशके पण्डित लोग समझते हैं, कि इच्छा ही हमारे सभी कार्य्यकलाप—गति-विधिका एकमात्र कारण है, वही समस्त बन्धनोंकी जड़ है। इसीलिये मुक्ति अर्थात् चरम-स्थिति प्राप्त करनेके लिये वह लोग सलाह देते हैं, कि इच्छाको जड़-मूलसे काट कर फेंक दो। वह कहते हैं देह और मनकी सब प्रकारकी गतियोंका निरोध ही योग साधन है।

समीर व्योमकी पीठ ठोंक कर हँसते हुए बोले—किसी आदमीने कोई प्रसंग उठाया है, ऐसे समय, यदि बीच ही में बात काटकर बहस करने लगो तो उसे झगड़ा करना कहेंगे ?

मैंने कहा—वैज्ञानिक क्षितिसे यह बात छिपी नहीं है कि गतिके साथ गति और एक 'कम्पन' के साथ दूसरे 'कम्पन' का एक घनिष्ट सम्बन्ध है। 'सा' सुरके बजते ही 'म' सुरका तार काँप उठता है। आलोक-तरंग, उत्ताप-तरंग और स्नायु-तरंग इत्यादि सभी प्रकारके तरंगोंमें एक प्रकारकी आत्मीयताका बन्धन है। हमारी (मनकी) चेतना भी तरंगित और कम्पित अवस्था है; इसीलिये संसारके विचित्र कम्पनके साथ उसका संयोग है। ध्वनि आकर स्नायु-कम्पनको सहायता दे जाती है। आलोक-रश्मि आकर उसकी स्नायु-तन्त्रीमें अपनी अलौकिक अंगुलीसे ठोकर दे जाती है।

उसके चिर-कम्पित स्नायु-जालने उसको संसारके समस्त स्पन्दन-छन्दोंमें विविध सूत्रों द्वारा बाँध कर जागृत कर रखा है।

हृदयकी वृत्ति, जिसे अंग्रेजीमें इमोशन कहते हैं, हमारे हृदयका आवेग अर्थात् गति है। उसके साथ भी अन्यान्य विश्व-कम्पनोंकी एक बड़ी एकता है। आलोकके साथ वर्ण और ध्वनिके साथ उसका एक स्पन्दन-सम्बन्धी संयोग है—एक सुरका मिलान है।

इसीलिये संगीत इतनी आसानीसे हमारे हृदयको स्पर्श कर सकता है, कि दोनोंके संयोग होनेमें अधिक देर नही लगती। तूफान और समुद्रमें जैसा भयंकर सम्मिलन होता है, वैसा ही गान और प्राणमें भी निविड़ संघर्ष हुआ करता है।

इसका कारण यह है कि संगीत अपनेमें कम्पनका संचार करके हमारे समस्त अन्तर प्रदेशको चञ्चल कर देता है—एक अनिर्देश्य आवेगसे हमारे हृदयको परिपूर्ण कर देता है। मन उदास हो जाता है। अनेकों कवि इस अपूर्व भावको अनन्तकी अकांक्षाके नामसे पुकारते हैं। मैंने भी कभी-कभी ऐसे भावका अनुभव किया है और मैंने भी ऐसी भाषाका प्रयोग किया है। केवल संगीत ही क्यों, सन्ध्याकाशकी सूर्य्यास्त-छटाने भी कितनी ही बार मेरे अन्तर प्रदेशमें अनन्त विश्वका हृत्स्पन्दन संचारित कर दिया है। उसने जिस अनिर्वचनीय बृहत् संगीतको ध्वनित किया है, उसके साथ मेरे प्रात्यहिक सुख-दु:खका कोई सम्बन्ध नहीं है, वह विश्वेश्वरके मन्दिरकी प्रदक्षिणा करनेवाला सामगान है। केवल संगीत और सूर्यास्त ही क्यों, जब कोई प्रेम हमारे समस्त अस्तित्वको एकदम विचलित कर देता है, तब वह भी हमलोगोंको संसारके क्षुद्र बन्धनोंसे मुक्तकर अनन्तके साथ मिला देता है।

वह एक महती तपस्याका रूप धारण करता है और देश-कालके शिलामुखको विदीर्ण करके झरनेकी तरह अनन्तकी ओर प्रवाहित होता है।

इसी प्रकार प्रबल स्पन्दन हमलोगोंको विश्व-स्पन्दनसे संयुक्त कर देता है। एक बड़ी सेना जैसे एक-दूसरेकी उत्तेजनासे— भावकी उन्मत्ततासे आकृष्ट होकर एक-प्राण हो जाती है; वैसे ही जब विश्वका कम्पन सौन्दर्यके संयोगसे हमारे अन्तःकरणमें संचरित हो जाता है, तब हमलोग समस्त संसारके साथ समान भावसे कदम बढ़ाते चले जाते हैं, अखिल विश्वके प्रत्येक कम्पमान परमाणु के साथ मिलकर बड़ी उत्कण्ठा और आवेगके साथ अनन्तकी ओर दौड़ पड़ते हैं।

इसी भावको कवियोंने कितने ही शब्दोंमें, कितने ही प्रकारसे प्रकट करनेकी चेष्टा की है और कितने ही लोग आज भी उसे बिल्कुल ही नहीं समझ सके। बहुतोंका ख्याल है कि यह कवियों का प्रलाप है।

कारण, भाषाका तो हृदयके साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उसे मस्तिष्कको भेदकर अन्तर-प्रदेशमें प्रवेश करना पड़ता है। वह तो एक दूतके सिवा और कुछ नहीं। हृदयके अन्तःपुरमें उसका प्रवेशाधिकार नहीं है। आम दरबारमें आकर वह अपना निवेदन प्रकट कर जाता है। इसके सिवा उसका कोई बूता नहीं। समझने और अर्थ लगानेमें उसे देर लगती है। परन्तु संगीत एकदम पहले ही संकेतपर हृदयको आलिङ्गन कर पकड़ रखता है।

इसलिये कवि लोग भाषाके साथ-साथ एक संगीतको नियुक्त कर देते हैं। वह अपने माया-स्पर्शसे हृदय-द्वारको खोल देता है।

छन्द और ध्वनिसे जब हृदय अपने-आप विचलित हो उठता है, तब भाषाका काम बहुत कुछ आसान हो जाता है। दूरपर जब वंशी बजती है, पुष्प जब आँखोंके सामने खिले रहते हैं, उस समय प्रेमका अर्थ समझना सरल होता है। सौन्दर्य जिस प्रकार क्षणभर में ही हृदयके साथ भावका परिचय करा देनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार दूसरा कोई नहीं।

सुर और ताल, छन्द और ध्वनि—संगीतके दो अंश हैं। यूनानियोंने "ज्योतिष्कमण्डलीका संगीत" नामक विषयका वर्णन किया है। शेक्सपीयर-ग्रन्थोंमें भी उसका कारण पहले ही उल्लेख हैं। उसको बताया है कि एक गतिके साथ दूसरी गतिका बहुत निकट सम्बन्ध होता है। समग्र नभ-मण्डलमें चन्द्र-सूर्य ग्रह-उप-ग्रह तालपर नाचते हुए जा रहे हैं। उनका विश्व-व्यापी महासंगीत मानो कानसे न तो सुना जाता है और न आँखसे दीख पड़ता है। छन्द संगीतका एक रूप है। कवितामें छन्द एवं ध्वनि मिलकर भावको स्पन्दित और जीवित बना देते हैं। कृत्रिम यदि कोई चीज हो, तो भाषा ही कृत्रिम हो सकती है, सौन्दर्य कृत्रिम नहीं हो सकता। भाषा मनुष्यकी सृष्टि है, परन्तु सौन्दर्यको उत्पन्न करनेवाला समस्त संसारका सृष्टिकर्त्ता है।

मेरी बातको सुनकर स्रोतस्विनीका मुख आनन्दसे खिल गया। वह हँसती हुई बोली—नाटकके अभिनयमें हमारे हृदयको विच-लित कर देनेवाले कितने ही उपकरण एक साथ वर्त्तमान रहते हैं। संगीत, आलोक, दृश्यपट, सुन्दर सज-धज इत्यादि सभी चीजें चारों ओरसे हमारे चित्तको उत्तेजित और चञ्चल कर देती हैं। तिसपर भी एक अविश्राम भाव-स्रोत, नाना प्रकारका रूप धारणकर

विविध कार्योंमें प्रवाहित होता है। हमलोगोंका मन नाट्य-प्रवाह के भीतर कोई दूसरा उपाय न देखकर आत्म-विसर्जन करता और तेजीके साथ वह चलता है। अभिनयस्थलोंमें देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न आर्टोंके बीच एक सहयोगिता है। वहाँ संगीत, साहित्य, चित्र और नाट्य-कला एक ही उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सम्मिलित होती हैं। मेरी समझमें ऐसा दृष्टान्त कोई दूसरा नहीं मिल सकता।

आठवीं बैठक

श्रोतस्विनीने मुझसे कहा—कच और देवयानीकी कथाके विषयमें तुमने जो कविता लिखी है, उसे मैं तुम्हारे मुखसे सुनना चाहती हूं।

सुनकर मैंने मनमें कुछ गर्व अनुभव किया। किन्तु दर्पहारी मधुसूदन उस समय जगे हुए ही थे। अतः तुरन्त दीप्ति अधीर होकर कहने लगीं—तुम बुरा न मानना, उस कविताका तात्पर्य या उद्देश्य तो मैं आजतक कुछ भी न समझ सकी। यह लेख तो अच्छा न हुआ।

मैं चुप रह गया। मन-ही-मन कहा—कुछ नम्रताके साथ यह प्रकट करनेसे संसारकी विशेष कोई हानि अथवा सत्यकी विशेष कोई क्षति न होती; क्योंकि लेखमें त्रुटिका रहना जिस तरह आश्चर्यकी बात नहीं, उसी तरह कोई जोर देकर यह नहीं कह सकता

कि पाठकमें काव्य-बोधशक्ति सर्वाङ्ग परिपूर्ण है, उसमें कोई त्रुटि ही नहीं। प्रकटमें कहा—यद्यपि अपनी रचनाके सम्बन्धमें लेखकको बहुधा आशा और विश्वास रहता है, तथापि इतिहाससे यह सिद्ध है कि लेखमें त्रुटिका होना बिल्कुल असंभव नहीं। और दूसरी ओर समालोचक सम्प्रदायका एकदम अभ्रान्त निर्दोष होना सम्भव है, इसका भी कोई प्रमाण इतिहासमें नहीं मिलता। इसीलिये ऐसी दशामें सिर्फ इतना ही जोर देकर कहा जा सकता है कि यह कविता तुम्हें पसन्द न आई। यह मेरे दुर्भाग्यकी बात है। हो सकता है कि यह तुम्हारा ही दुर्भाग्य हो।

दीप्तिने गम्भीर होकर थोड़ेमें ही कहा—"हो सकता है।" इतना कहकर एक पुस्तक खींचकर पढ़ने लगीं।

व्योम खिड़कीके बाहर दृष्टि फेरकर—मानो किसी आकाश तलस्थ काल्पनिक पुरुषको सम्बोधन करके बोले—यदि तात्पर्यकी बात कहो, तो मैं कहूंगा कि मैंने इस लेखका एक तात्पर्य पाया है।

क्षितिने कहा—पहले यह तो बताओ कि उसका विषय क्या है? कविता तो अभी पढ़ी ही नहीं गई। कविके डरसे मुझे चुप रहना पड़ा था, पर अब मैं साफ-साफ निवेदन करना चाहती हूँ।

व्योमने कहा—शुक्राचार्यसे संजीवनी-विद्या सीखनेके लिये बृहस्पतिके पुत्र कचको देवताओंने दैत्य-गुरुके आश्रमपर भेजा। वहां कचने हजारों वर्ष नृत्य-गीत-वाद्यसे शुक्रदुहिता देवयानीका मनोरञ्जन करते हुए संजीवनी-विद्या सीखी। अन्तमें जब विदा होनेका समय आया, तब देवयानीने उनपर अपना प्रेम प्रकट करके उन्हें जानेसे रोका। देवयानीके प्रति आन्तरिक खिंचाव होते हुए भी कच उसके अनुरोधको न मानकर अपने घर चले गये। कथा

तो यही है। महाभारतके साथ थोड़ा-सा मतान्तर है, जिसकी गिनती नहीं करनी चाहिये।

क्षितिने किञ्चित् कातर स्वरसे कहा—देखता हूं, कहानी तो छोटी ही है ; परन्तु आशंका है कि इसका तात्पर्य कहीं इससे भी बड़ा न हो।

व्योमने क्षितिकी बातपर कान न देकर कहा—यह कथा देह और आत्माके सम्बन्धमें है।

सुनकर सभी डर गये।

क्षितिने कहा—मैं इस समय अपनी देह और आत्माको लेकर इज्जत-आबरूके साथ विदा होती हूं।

समीरने दोनों हाथोंसे उनका चोंगा पकड़कर बठाया और कहा—संकटके समय हमलोगोंको अकेले छोड़कर कहाँ जाती हैं ?

व्योमने कहा—जीव स्वर्गसे इस संसार-आश्रमपर अवतीर्ण हुआ है। वह यहाँ सुख-दुःख विपद्-सम्पद्से शिक्षा ग्रहण करता है। जब तक वह छात्रावस्थामें रहता है, तब तक उसे आश्रम-कन्या, देहको सन्तुष्ट रखना पड़ता है। मन भुलानेकी अपूर्व विद्या उसे मालूम है। वह देहकी इन्द्रिय-वीणासे ऐसा मधुर संगीत अलापता है कि पृथ्वीपर सौन्दर्यकी नन्दन मरीचिका उतर आती है और शब्द, गन्ध, स्पर्श इत्यादि सभी जड़-शक्तियाँ वाद्य-नियम को त्यागकर एक अपूर्व स्वर्गीय नृत्यके आवेशमें हिलने लगती हैं।

बोलते-बोलते स्वप्नाविष्ट शून्य-दृष्टि व्योम उत्फुल्ल हो उठे। चौकी पर सम्हलकर बैठ गये और बोले—यदि इस दृष्टिसे देखो तो प्रत्येक मनुष्यके भीतर एक अनन्तकालीन प्रेमाभिनय देख पाओगे। जीव अपनी मूढ़, निर्बुद्धि, निर्भरपरायण संगिनीको किस प्रकार उन्मत्त

बना रहा है। देहके प्रत्येक परमाणुके भीतर एक ऐसी आकांक्षा उत्पन्न कर देता है कि देह-धर्मके द्वारा उस आकांक्षाकी परितृप्ति नहीं होती। उसकी आँखोंमें सौन्दर्यका एक हाथ ऐसा फेर देता है कि उसकी आँखें ही चौंधियां जाती हैं, वह कुछ देख ही नहीं पातीं। इसलिये वह कविवर विद्यापतिके शब्दोंमें कहती है—"जनम अवधि हम रूप नेहारनु नयन न तिरपित भेल।" उसके कानमें जो संगीत बजा जाता है, उसकी सीमा नहीं, इसी-लिये वह व्याकुल होकर कहती है—"सोइ मधुर बोल श्रवनहि सुन लूं श्रुति पथे परश ना गेल" इधर यह प्राणप्रदीप्त मूढ़ संगिनी भी लतिकाकी भाँति सहस्त्र:शाखा-प्रशाखाओंको फैलाकर प्रेम-प्रतप्त कोमल आलिंगनपाशसे जीवको बाँध लेती हैं और धीरे-धीरे उसे मुग्ध अभिभूत करती-रहती है। अक्लान्त परिश्रमसे छाया की तरह साथ-साथ रहकर विविध उपचारोंसे उसकी सेवा करती है। प्रवासका-जीवन उसे न अखरे, आतिथ्यमें किसी प्रकारकी त्रुटि न होने पाये, इन बातोंपर उसके आंख, कान, हाथ पैर साव-धान रहते हैं। इतना करनेपर भी एक दिन जीव अपनी चिरसंगिनी अनन्यासक्ता देहलताको धूलशायिनी करके चला ही जाता है। कहे जाता है कि—प्रिये, यद्यपि मैं तुम्हें आत्मवत् प्यार करता हूं, तथापि तुम्हारे लिये केवल एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर ही मुझे जाना पड़ेगा। देह उसका पैर पकड़कर कहती है—प्रीतम, अन्तमें यदि मुझे तृणवत् त्यागकर जाना ही था, तो अपने प्रेमके गौरवसे मुझे महिमामयी क्यों बनाया? मुझे क्यों अपनाया? मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूं! परन्तु तुम क्यों मेरे इस प्राणप्रदीप दीप्त निभृत स्वर्ण-मन्दिरमें एक दिन रहस्य-तिमिराच्छन्न अर्ध-

रात्रिमें अनन्त समुद्र पार कर अभिसार करने आये थे? मैंने अपने किस गुणसे तुम्हें आकर्षित कर लिया था? इस करुण प्रश्नका कोई उत्तर न देकर विदेशी कहाँ चला जाता है, कोई नहीं जान पाता। यही चिर-मिलनके बन्धनका अवसान है, यही मथुरा-यात्राका दिन है। यही कायाके साथ कायापतिका अन्तिम सम्भाषण है। उसके समान शोचनीय विरह-दृश्य किसी दूसरे प्रेम-काव्यमें नहीं मिलेगा।

क्षितिके चेहरेसे एक परिहासका आभास पाकर व्योमने कहा—तुम लोग इसे प्रेम नहीं समझते हो। तुम लोग क्या समझते हो, कि मैं रूपकके आधारपर ये बातें कह रहा हूँ? सो नहीं। संसारमें यही सर्वप्रधान प्रेम है। जीवनका सर्वप्रधान प्रेम जैसे सबकी अपेक्षा प्रबल हुआ करता है, वैसे ही संसारका सर्वप्रधान प्रेम भी सरल और प्रबल होता है। यह आदि प्रेम—यह शरीरका प्यार, संसारमें सबसे पहले प्रकट हुआ था। उस समय पृथ्वीमें जल-स्थलका विभाग नहीं हुआ था। उस समय कोई कवि वर्त्तमान न था, किसी ऐतिहासिकने जन्म ग्रहण न किया था। परन्तु उस दिन जलपूर्ण, पंकमय अपरिणत धरातलके ऊपर इसकी विजय-वैजयन्ती सबसे पहले फहरा उठी थी। यह सिद्ध हुआ था, कि यह संसार अस्त्र-शस्त्र आदि यन्त्रोंका ही संसार नहीं है। प्रेम नामक एक अपूर्व आनन्दमय, वेदनापूर्ण इच्छाशक्ति पंकके भीतरसे कमल बन उत्पन्न करती है और उस कमल-बनसे ऊपर, भक्तोंकी दृष्टिमें सौन्दर्य रूपिणी लक्ष्मी और भाव-रूपिणी सरस्वती निवास करती हैं।

क्षितिने कहा—यह सुनकर मुझे अपार आनन्द हुआ कि

हमलोगोंमें प्रत्येकके भीतर एक इतना बड़ा काव्य-संग्राम छिड़ा हुआ है। परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा, कि सरल प्रकृति कायाके प्रति चञ्चलमना जीवका आचरण सन्तोषजनक नहीं है। मेरी हार्दिक इच्छा है, कि मेरी आत्मा और जीवात्मा इस प्रकार चञ्चलता न प्रकट करके, कमसे कम थोड़े दिन और देह-देवयानीके आश्रममें स्थिर होकर रहें। तुम लोग भी यही आशीर्वाद दो।

समीरने कहा—भाई व्योम, तुम्हारे मुखसे तो कभी शास्त्र-विरुद्ध आलोचना नहीं सुनी जाती। तुमने आज क्यों इस प्रकार कृस्तानों जैसी बातें कहीं हैं? जीव स्वर्गसे संसार-आश्रममें भेजा जाकर शरीरके साथ निवास करता है और सुख-दुःखमें रहनेसे उसका पूर्ण विकास होता है, इन विचारोंके साथ तो तुम्हारे पुराने विचारोंका सामञ्जस्य नहीं रहता।

व्योमने कहा—इन सब बातोंमें मतका मिलान करनेकी चेष्टा न करना। अपने पुराने मतके साथ वर्त्तमान मतका सामञ्जस्य रखनेके झगड़ेमें मैं नहीं पड़ता। जीवन-यात्राके व्यवसायमें प्रत्येक जाति ही अपने देशकी प्रचलित मुद्रामें मूलधन संचय करती है। देखनेकी बात यह है, कि उसके द्वारा व्यवहार चल सकता है या नहीं। जीव सुख-दुःख, विपद-सम्पदके भीतरसे शिक्षा प्राप्त करनेके लिये संसारमें प्रेरित हुआ है, इसी मतको मूलधन मानकर जीवनयात्रा यदि समीचीन भावसे चल सके, तब तो मैं समझता हूँ कि यह शिक्षा नकली नहीं है। फिर प्रसङ्ग-क्रमसे कोई अवस्थान्तर होगा, तो मैं लोगोंको समझा दूँगा कि जिस बैंकनोटको लेकर जीवन-वाणिज्य आरम्भ किया था, विश्व-विधाताके बैंकमें वह नोट भी चलता है।

क्षितिने करुण स्वरमें कहा—दुहाई हजूरकी ! तुम्हारी प्रेम की बातें ही यथेष्ट कठिन प्रतीत होती हैं, फिर तुम यदि वाणिज्य की अवतारणा करो, तो मुझे भी यहाँसे बिदा होना पड़ेगा। मैं इसे समझनेमें एकदम असमर्थ हूं। यदि आज्ञा पाऊँ, तो मैं (कविता का) एक अभिप्राय प्रकट करूँ।

व्योमने चौकीके सहारे बैठकर जङ्गलेपर दोनों पैर बढ़ा दिये। क्षितिने कहा—मैं देखती हूं कि इवोल्युशन थ्योरी अर्थात् अभि व्यक्तिवादकी असली बात इस कवितामें वर्त्तमान है, सञ्जीवनी विद्याका अर्थ है, जीवित रहनेकी विद्या। संसारमें यह साफ देखा जाता है, कि प्रत्येक आदमी उस विद्याको प्राप्त करनेके लिये निरन्तर अभ्यास करता है। एक-दो वर्ष नहीं, उसकी तपस्या हजारों लाखों वर्ष तक जारी रहती है। किन्तु जिसको अवलम्बन करके वह विद्याका अभ्यास कर रहा है, उस प्राणी-वंशके प्रति उसका प्रेम क्षणस्थायी होता है! ज्योंही एक परिच्छेद समाप्त किया कि वह निष्ठुर प्रेमिक—चञ्चल अतिथि, उसको रद्दीके टुकड़ेमें फेंककर चला जाता है। पृथ्वीका बित्ता-बित्ता इस निष्ठुर बिदाईके विलाप-गानसे गुंजित हो रहा है।

क्षितिकी बात समाप्त होते न होते दीप्ति विरक्त होकर बोल उठीं—तुम लोग यदि इस तरह तात्पर्य्य बाहर करते जाओ, तो तात्पर्य्यकी सीमा न रहेगी। काठको जलाकर अग्नि बिदाई लेती है, रेशमके कोएको फोड़कर रेशमका कीड़ा बाहर निकल जाता है, फूलको सुखाकर फल निकलता है, बीजको फोड़कर अंकुर निकलता है। ऐसे ही लाखों-लाखों तात्पर्य्योंकी ढेर लग सकती है।

व्योमने गम्भीरतापूर्वक कहा—सच है। यह तो तात्पर्य्य नहीं है, केवल दृष्टान्त है। उसके भीतरकी असली बात यह है कि संसारमें दोनों पैरोंका प्रयोग किये बिना हमारा काम नहीं चल सकता। बायां जब पीछे रुका रहता है, तब दाहिना पैर आगे बढ़ जाता है और दाहिना पैर आगे रुक जाने पर बायाँ पैर अपना बंधन छुड़ाकर आगे बढ़ता है। हम एक बार अपने आपको बँधवाते हैं, दूसरे ही क्षण बन्धनको खोल फेंकते हैं। हमलोगोंको प्रेम करना भी पड़ता है और प्रेमको तोड़ना भी पड़ता है। संसारका यही सबसे बड़ा विषादमय नियम है और इस नियमको मानकर ही हमें चलना पड़ेगा। समाजके विषयमें भी यही बात लागू है। नया नियम जब कालक्रमसे प्राचीन प्रथाके रूपमें परिणत होकर हम लोगोंको एक स्थान पर रोक लेता है—बाँध डालता है—तब समाज विप्लव आकर उस रुकावटको—बन्धनको तोड़ता है। जिस पाँवको हम टेकते हैं, तुरन्त उसे उठा भी लेना पड़ता है; नहीं तो चल नहीं सकते। अतएव देखा जाता है, कि जहाँ उन्नति है—प्रगति है, वहां विच्छेद है—बिलगाव है। यही ईश्वरका नियम है।

समीरने कहा—कहानीके अन्तमें जो एक शाप है, तुममेंसे किसीने उसका उल्लेख नहीं किया। कच जब विद्या प्राप्त कर और देवयानीका प्रेम पाश तोड़कर स्वर्गको जाने लगे, तब देवयानीने उन्हें शाप दिया कि तुमने जो विद्या सीखी है, वह तुम दूसरेको सिखा सकते हो, परन्तु स्वयं उसका व्यवहार नहीं कर सकते। मैंने उस अभिशापके साथ-साथ एक दूसरा तात्पर्य्य निकाला है, यदि धीरज धरकर सुनना चाहो तो कहूं।

क्षितिने कहा—धैर्य रह सकेगा या नहीं, यह पहलेसे नहीं

कह सकती हूँ। प्रतिज्ञा करके यदि प्रतिज्ञाका पालन न हो सका तो क्या होगा? तुम आरम्भ कर दो, फिर अवस्था यदि संगीन हो जाय, तो मुझपर दया करके रुक जाना।

समीरने कहा—सञ्जीवनी विद्याका तात्पर्य्य रखिये अच्छी तरह जीवन धारण करनेकी विद्या। मान लीजिये, कि कोई कवि उस विद्याको स्वयं सीखकर दूसरोंको सिखानेके लिये संसारमें अवतीर्ण हुआ है। उसने अपनी सहज-स्वर्गीय शक्ति के द्वारा संसारको मुग्ध करके उसके निकटसे उस विद्याका उद्धार कर लिया। उसने संसारसे प्रेम नहीं किया सो बात नहीं, परन्तु असलमें घटना यह है, कि जब संसारने उससे कहा कि मेरे बन्धनमें आओ—मेरी रस्सी गलेमें डाल लो। तब उसने (कविने) कहा—"मैं अपनेको पकड़ा दूँ—आत्म-समर्पण करूँ, तुम्हारे प्रलोभनोंसे आकृष्ट हो जाऊँ, तो जो संजीवनी विद्या मैंने सीखी है, वह दूसरेको नहीं सिखा सकूँगा। मैं चाहता हूं कि संसारमें सबके भीतर रहकर भी अपनेको विच्छिन्न—अनासक्त रखूँ।" तब संसारने उसे शाप दिया—"तुमने जो विद्या मेरे यहांसे सीखी है, उस विद्याको तुम भले ही दूसरोंको सिखा दो, पर तुम स्वयं उसका व्यवहार नहीं कर सकते।" संसारके इसी शापके कारण प्रायः देखा जाता है, कि गुरुकी शिक्षासे छात्र लाभ उठाता है, परन्तु गुरु स्वयं उस संसार-ज्ञानसे लाभ नहीं उठा सकते। इस काममें वह बालकसे भी नादान हैं। इसका कारण यह है कि निर्लिप्त भावसे, बाहरसे विद्या सीखी जा सकती है, परन्तु जब तक हम उसमें लिप्त होकर व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण नहीं करते, तब तक उसका प्रयोग नहीं कर सकते। इसीलिये

प्राचीन कालमें ब्राह्मण मन्त्री होते थे और क्षत्रिय राजा उसकी मन्त्रणाका प्रयोग करते थे। ब्राह्मणको यदि राज सिंहासन पर बैठा दिया जाता तो ब्राह्मण कर्मसागरके अगाध जलमें डूब जाते और साथ ही साथ राज्यको भी कहींका न रखते।

तुमने जो सब बातें उठायीं थी उनमें सभी बहुत साधारण हैं। मान लो कि हम कहते हैं कि रामायणका तात्पर्य्य यह है, कि राजाके घरमें जन्म लेकर भी अनेकों सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, शकुन्तलाका तात्पर्य्य यह है कि उपयुक्त अवसर पर स्त्री-पुरुषके हृदयमें परस्पर प्रेमका संचार होना कोई असम्भव बात नहीं, तो क्या तुम इसे कोई नयी शिक्षा या कोई विशेष उल्लेखनीय विषय कहोगे ?

स्रोतस्विनीने जरा हिचकिचाहटके साथ कहा—मैं तो समझती हूं कि वे साधारण बातें ही काव्य-कथा हैं। राजाके घरमें जन्म लेकर भी—सभी प्रकारके सुखोंकी सम्भावना रहते हुए भी जीवन पर्य्यन्त राम और सीताको एक विपद्के बाद दूसरी विपद्को झेलते हुए दुःखका शिकार बनना पड़ा है। इस साधारण, परन्तु सम्भवनीय चित्रणको पढ़ कर लोगोंकी आँखोंमें आँसू भर आते हैं, लोग इस दुःख-कहानीको बहुत पुरानी जानते हुए भी वेद-वाक्य समझते हैं। शकुन्तलाके प्रेम-दृश्यमें वास्तवमें कोई विशेष शिक्षा या कोई विशेष बात नहीं है, केवल एक बहुत पुरानी घटना का उल्लेख है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि प्रेम अकस्मात् समय-असमयका विचार किये बिना ही बड़े अप्रतिहत वेगसे आक्रमण करता है और स्त्री-पुरुषके हृदयको एक दृढ़ बन्धनमें बाँध कर एक कर देता है। इस बहुत ही सीधी-सादी बातके रहनेसे ही जन-

साधारणने इसे इतने चावसे अपनाया है और आदर किया है। कोई-कोई कह सकते हैं कि द्रौपदीके चीर-हरणका विशेष अर्थ यह है कि मृत्यु इस जीव-जन्तु, तरु-लता, तृणाच्छादित पृथ्वीका वस्त्र खींच रही है, परन्तु विधाताकी कृपासे कभी उसके वस्त्राञ्चलका अन्त नहीं होता ! सर्वदा वह प्राणमय, सौन्दर्य्यमय नवीन वस्त्रों से सुसज्जित होती रहती है।

सभापर्वमें हमारे हृदयका खून उबल उठा था और एक भक्त स्त्रीका संकट देख कर व्यथासे हमारे नेत्रोंसे आंसूकी धारा बहने लगी थी—इसका कारण कोई नवीन और विशेष अर्थ नहीं है, वल्कि इसका कारण है अत्याचार पीड़ित रमणीकी लज्जा और उसकी रक्षा नामक एक अत्यन्त प्राचीन स्वाभाविक और साधारण तथ्य। कच-देवयानीके संवादमें भी मानव-हृदयकी एक चिरन्तन और साधारण विषाद-गाथाका वर्णन किया गया है। उसे जो लोग तुच्छ समझते हैं और विशेष तथ्यको ही प्रधानता देते हैं, और वे वास्तव में काव्य-रसके समझने वाले नहीं हैं।

समीरने हँस कर मुझे सम्बोधन कर कहा—श्रीमती स्रोत-स्विनीने हमलोगोंको काव्य-रसकी अधिकारकी सीमासे एकदम निर्वासित कर दिया। इस समय देखा जाय स्वयं कवि क्या विचार करते हैं।

स्रोतस्विनी लज्जित और अनुतप्त होकर बारंबार इस बातका प्रतिवाद करने लगीं।

मैंने कहा—मैं इतना ही कह सकता हूँ कि जब मैं कविता लिखने बैठा था, उस समय कोई अर्थ ही मेरे मस्तिष्कमें नहीं उठा था। तुमलोगोंकी कृपासे अब देखता हूँ कि मेरा लेख एकदम

निरर्थक नहीं हुआ है। अर्थकोषमें उसके लिये स्थानाभाव हुआ चाहता है। काव्यका एक गुण यह है कि कविकी सृजन-शक्ति पाठककी सृजन-शक्तिको उत्तेजित कर देती है, तब अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कोई तो सौन्दर्य, कोई नीति और कोई तत्त्वकी सृष्टि करने लगता है—मानो यह आतशबाजीका तमाशा है: काव्य वही अग्नि-शिखा है। मनुष्यके मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी आतशबाजियाँ होती हैं। कोई आग लगाते ही वायुयानकी तरह आकाशमें उड़ जाती है, कोई चरखीकी तरह चारों ओर घूमने लगती है और कोई बमकी तरह आवाज देने लगती है। इतनेपर भी मैं कहूंगा कि स्रोतस्विनीके साथ मेरा मत-विरोध नहीं है। बहुत लोग कहते हैं—गुठली ही फलका प्रधान अंश है और वैज्ञानिक युक्तिसे इसे सिद्ध भी किया जा सकता है। तथापि अधिकांश रसज्ञ लोग फलका गुदा खाकर गुठलीको फेंक देते हैं। इसी प्रकार किसी काव्यमें कोई विशेष शिक्षा हो भी सकती है, परन्तु काव्य-रसज्ञ उसके रस-पूर्ण काव्यांशको ही ग्रहण करते हैं और शिक्षा-अंशको छोड़ देते हैं। इससे उनके काव्य-विवेचनको दोष नहीं दिया जा सकता। किन्तु जो लोग अंशको ही आग्रहसे ग्रहण करना चाहते हैं, उनका भी भला हो। वे भी दोष देने लायक नहीं हैं। आनन्द किसीको जबर्दस्ती नहीं दिया जा सकता। सरसोंके फूलसे कोई रङ्ग निकालता है, कोई उसे पेरकर तेल निकालता है और कोई भौंचक होकर उसकी शोभा देखता है। काव्यके भीतरसे कोई इतिहासका तथ्य निकालता है, कोई दर्शनका तत्त्व निकालता है, कोई नीति-शिक्षा और कोई विषय ज्ञान बाहर करता है और कोई-कोई तो काव्यके भीतरसे काव्यके सिवा दूसरी

कोई चीज ही नहीं निकाल सकते। जिनको जो कुछ मिल जाय, उसीको लेकर वे घर लौट जाएँ। इसमें झगड़ा-तकरारकी कोई आवश्यकता नहीं। इससे कोई मतलब नहीं निकलेगा।

नवीं बैठक

स्रोतस्विनीने किसी विख्यात अंग्रेज कविका उल्लेख करके कहा—न जाने क्यों, उनकी रचना मुझे पसन्द नहीं आती।

दीप्तिने और भी जोरदार शब्दोंमें स्रोतस्विनीका समर्थन किया। समीर यथासाध्य स्त्रियोंकी बातोंका प्रतिवाद करनेकी चेष्टा नहीं करते। इसीलिये उन्होंने जरा हँसकर इधर-उधर देखते हुए उत्तर दिया—किन्तु बड़े-बड़े समालोचक तो उन्हें बहुत ऊँचा स्थान देते हैं।

दीप्तिने कहा—अग्निमें दाहिका शक्ति है, वह सभी चीजोंको जला देती है, इस सत्यको सिद्ध करनेके लिये किसी समालोचककी आवश्यकता नहीं पड़ती—बायें हाथकी कानी उँगलीको उस पर रखनेसे ही मालूम हो जाता है। अच्छी कविताका अच्छापन यदि इस तरह बातमें न समझा जा सके, तो उसके समझनेके लिये मैं समालोचनाको पढ़नेकी जरूरत नहीं समझती।

अग्निमें जलानेकी शक्ति है, समीर यह बात जानते थे। इसी-इसलिये वह चुप रह गये, किन्तु व्योम बेचारेको इन सब बातोंमें

कुछ भी अभिज्ञता नहीं है। इसलिये उसने अपनी बुलन्द आवाज में इसका प्रतिवाद करना आरम्भ किया—

मनुष्यका मन उसे छोड़कर भागता फिरता है, अनेक समय उसको पकड़ रखना कठिन हो जाता है।

क्षितिने उनको रोककर कहा—त्रेतामें हनुमानजीकी सौ योजन की पूँछ उनके आकारसे बढ़कर थी। उनकी पूंछके सिरपर यदि चील बैठती, तो उसे उड़ानेके लिये घोड़ेकी डाक बैठानी पड़ती। मनुष्यका मन हनुमानकी पूँछसे भी बड़ा है।

इसलिये कभी-कभी मन इतनी दूर पहुँच जाता है कि समालोचक रूपी घोड़ेकी डाकके सिवा वहाँ पहुंचनेका कोई दूसरा उपाय नहीं रहता। पूँछके साथ मनका इतना ही अन्तर है कि मन आगे दौड़ता है और पूंछ पीछे पड़ी रहती है। इसलिये संसारमें पूँछकी इतनी हीनता होती है और मनका इतना सम्मान।

क्षितिकी बात समाप्त होनेपर व्योमने फिर कहना आरम्भ किया—विज्ञानका उद्देश्य है जानना और दर्शनका उद्देश्य है समझना; किन्तु अवस्था ऐसी आ पहुँची है कि विज्ञानको ही जानना और दर्शनको ही समझना, दूसरा कुछ जानने और समझनेकी अपेक्षा कठिन हो गया है। इसके लिये कितने स्कूल, कितनी पुस्तकें और कितनी तैयारियाँ दरकार हुई हैं—इसका ठिकाना नहीं। साहित्यका उद्देश्य मनोरञ्जन करना—आनन्द दान करना है; किन्तु उस आनन्दको प्राप्त करना भी बिल्कुल सरल नहीं है। उसके लिये भी विविध प्रकारकी शिक्षा और सहायताकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिये मैं कहता था कि देखते-न-देखते मन इतना आगे बढ़ आता है कि उसको छूनेके लिये सीढ़ीकी जरूरत पड़ती है। यदि

कोई गर्वके साथ कहे कि जो शिक्षाके बिना नहीं जाना जा सकता है, वह विज्ञान नहीं है ; जो बिना चेष्टाके समझा न जा सके, वह दर्शन नहीं है और जो बिना साधनाके आनन्द दान न कर सके, वह साहित्य नहीं है। तब तो केवल पुराने वचन, प्रवाद-वाक्य और कहावतोंको लेकर ही हमें पीछे पड़ा रहना होगा।

समीरने कहा—मनुष्यके लिये सभी काम धीरे-धीरे कठिन होते जाते हैं। जङ्गली लोग जैसे-तैसे चिल्लाकर ही उत्तेजनाका अनुभव कर लेते हैं। परन्तु हमलोगोंका ऐसा दुर्भाग्य है कि विशेष असाध्य-साध्य, शिक्षा-साध्य संगीतके बिना हमारा मनोरञ्जन ही नहीं होता और सबसे बड़ी आफत तो यह है कि गानेमें एक बड़ी शिक्षाकी जरूरत पड़ती है। इसका फल यह होता है कि जो चीजें पहले सर्व-साधारणकी थीं, वे अब उन्हीं लोगोंकी होती जाती हैं, जो उनके लिये तपस्या करता है—परिश्रम करता है। चिल्ला सभी सकते हैं और चिल्लाकर असभ्य लोग आनन्द अनुभव कर लेते हैं, परन्तु गाना सभी नहीं गा सकते और गानेमें सबको आनन्द भी नहीं मिलता। इसलिये समाज जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही अधिकारी और अनधिकारी, रसिक और अरसिकके भी दो दल बनते जाते हैं।

क्षितिने कहा—मनुष्य बेचारेको ऐसा ही बनाया गया है कि वह जितना ही सरल उपाय अवलम्बन करना चाहता है, उतना ही वह जटिलतामें जकड़ा जाता है। वह आसानीसे काम कर लेनेके लिये कल तैयार करता है, परन्तु कल भी स्वयं ही एक कठिन चीज है। वह सहज ही प्राकृतिक ज्ञानको शृङ्खलाबद्ध करनेके लिये विज्ञानकी सृष्टि करता है, किन्तु उस विज्ञानको आयत्त कर लेना

कठिन है। न्याय करनेका सरल तरीका निकाला गया है कानून। और उस कानूनको अच्छी तरह समझनेके लिये एक दीर्घजीवी मनुष्यकी जिन्दगीका बारह आना खर्च हो जाता है। आसानीसे लेन-देन चलानेके लिये रुपयेकी सृष्टि हुई। अन्तमें आर्थिक समस्या इतनी जटिल हो गई कि उसकी मीमांसा करना ही कठिन हो गया। सब कुछ आसान बनानेके लिये मनुष्यने चेष्टा की, परन्तु खान-पान, आदान-प्रदान, आमोद-प्रमोद इत्यादि सभी कठिन हो गये।

स्रोतस्विनीने कहा—इसी प्रकार कविता भी कठिन हो गई है। इस समय मनुष्यमें साफ-साफ दो विभाग हो गये हैं। इस समय थोड़े आदमी धनी और ज्यादे निर्धन हैं, थोड़े गुणी और अधिक निर्गुण हैं। इस समय कविता भी सर्व-साधारणकी नहीं रह गई। वह भी एक सम्प्रदाय-विशेषकी हो गई है। इतना तो मैं समझ गई; परन्तु बात यह है कि हमने कविताके विषयमें यह प्रश्न छेड़ा है कि कविता किसी अंशमें भी कठिन नहीं है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं रखी है, जिसे हमलोग न समझ सकें, वह अत्यन्त आसान है। यदि हमलोग न समझ सकें, तो उसमें हमारा दोष नहीं है।

क्षिति और समीरने इसके बाद कुछ न कहना चाहा। किन्तु व्योमने निधड़क उत्तर दिया—जो सरल है, वह सहज भी होगा; ऐसी कोई बात नहीं। बहुत समय सरल ही अत्यन्त कठिन हो जाता है; क्योंकि वह अपनेको समझानेके लिये किसी बाहरी उपायका अवलम्बन नहीं करता। वह चुपचाप खड़ा रहता है। उसे यदि अच्छी तरह समझ न लो, तो वह पुकारने नहीं जाता

कि लौट जाओ, तुम मुझे समझ नहीं सके हो। प्राञ्जलताका यह प्रधान गुण है कि वह मनके साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध जोड़ लेती है। उसे किसी मध्यस्थ (Medium) की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु जिन लोगोंके मन मध्यस्थके विना कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते, जिनको भुलावा देकर आकृष्ट कर लेना पड़ता है, उनकी समझमें प्राञ्जलता कभी आ ही नहीं सकती। कृष्णनगरका बनाया हुआ भिश्तीका चित्र अपने रूप-रंग, मशक और आकार-प्रकारसे हमारे हृदयमें तुरत स्थान बना लेता है; क्योंकि हम रोज उसे देखते हैं और उसकी बारीकियोंसे परिचित हैं। परन्तु ग्रीस देशकी प्रस्तर-मूर्त्तिमें रंग, आकार इत्यादि कुछ भी नहीं है, वह प्राञ्जल और प्रयासहीन है, तथापि वह सहज नहीं है। किसी प्रकारका तुच्छ बाह्यिक कौशलका अवलम्बन नहीं करती, इसलिये भाव-सम्पद्की उसे अधिक जरूरत होती है।

दीप्तिने किञ्चित् विरक्तिसे कहा—तुम अपनी ग्रीसकी प्रस्तर-मूर्त्तिको दूर हटाओ। इसके बारेमें मैंने बहुत-कुछ सुना है और बची रहूँगी, तो और भी बहुत-कुछ सुनूँगी। अच्छी वस्तुओंमें यही दोष है कि वे सर्वदा पृथ्वीपर आँखोंके सामने विद्यमान रहती हैं, उनके सामने कोई पर्दा नहीं होता। उन्हें लज्जा-शर्म नहीं होती, उन्हें प्रकट करनेकी किसीको जरूरत नहीं पड़ती, समझनेके लिये किसीको सरपच्ची नहीं करनी पड़ती, किसीको आँखें फाड़-फाड़कर उन्हें अच्छी तरह देखना भी नहीं पड़ता। सिर्फ उनके विषयमें एक-दो गीत बार-बार सुनने और गाने पड़ते हैं। सूर्यका कभी-कभी मेघोंकी आड़में छिपा रहना अच्छा है; नहीं तो मेघहीन सूर्यका गौरव नहीं समझा जा सकता। मैं तो समझती हूँ कि

पृथ्वीके बड़े-बड़े लोगोंकी गौरव-रक्षाके लिये कभी-कभी उनका अना-दर और अवहेलनाकी आड़में पड़ जाना अच्छा है—कभी-कभी ग्रीक मूर्त्तिकी निन्दा फैशनमें गिन लेनी चाहिये; कभी-कभी खुले-मैदान यह सिद्ध होना अच्छा है कि कालीदासकी अपेक्षा चाणक्य अच्छे कवि थे। जो हो, यह बात बिल्कुल प्रसंगसे बाहर है। मेरा कहना यह है कि बहुधा भावके अभाव और आचारकी बर्बरताको सरलता कहकर हम भूल करते हैं। बहुत समय व्यक्त योग्यताके अभावसे हम भावाधिक्यके परिचयकी कल्पना कर लेते हैं। यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है।

मैंने कहा—कला-विद्यामें सरलता उच्च श्रेणीकी मानसिक उन्नतिकी सहचरी है। बर्बरताको सरलता नहीं कहते हैं। बर्बरतामें आडम्बर और धूम-धाम बहुत ज्यादे होती हैं। बहुत अलङ्कार मनोरञ्जनकी दृष्टिसे अच्छा है, किन्तु वह मनको प्रतिहत कर देता है। हमारी भाषामें—क्या समाचार-पत्र और क्या उच्च श्रेणीका साहित्य—सभी जगह सरलता और उन्मादहीनताका अभाव देखा जाता है। हमलोग बढ़ा-चढ़ाकर, गला फाड़-फाड़कर और नाच-कूदकर कहना पसन्द करते हैं। बिना आडम्बरके सच्ची बातको साफ शब्दोंमें प्रकट कर देनेकी हमारी प्रवृत्ति नहीं होती; क्योंकि हमारे भीतर आदिम बर्बरताके कुछ चिह्न अभी बाकी हैं। सत्य जब प्राञ्जल भाषामें हमारे सामने आता है, तब उसकी गम्भीरता और असामान्यताको हम देख नहीं सकते। भावका सौन्दर्य जब तक कृत्रिम भूषण और नाना प्रकारके अलंकारोंसे लदकर नहीं आता, तब तक हमलोग उसका आदर-सम्मान ही नहीं करते।

समीरने कहा—संयम भद्रताका एक प्रधान लक्षण है। भले-मानस लोग कभी बढ़ा-चढ़ाकर अपने अस्तित्वका प्रचार नहीं करते। वे ऐसा कोई आचरण नहीं करते, जिससे दस आदमियोंकी नजर उन पर पड़े। विनय और संयमके द्वारा वे लोग अपनी मान-मर्य्यादाकी रक्षा करते हैं। बहुत समय जनसाधारणके निकट संयत और नम्र भावसे रहनेकी अपेक्षा आडम्बर और सज-धजका ही अधिक आदर होता है; वही उनकी दृष्टि पहले आकर्षित करता है, परन्तु उसमें सभ्यताका दुर्भाग्य नहीं, बल्कि जन साधारणका दुर्भाग्य समझना चाहिये। साहित्य और आचार-व्यवहारका संयम उन्नतिका एक प्रधान लक्षण है। जियादती और आडम्बरके द्वारा दृष्टि आकर्षण करनेकी चेष्टा करनी बर्बरता है।

मैंने कहा—दो-एक अँगरेजी बात कहना चाहता हूँ, क्षमा करना। भलेमानस लोगोंकी तरह ही सभ्य साहित्यमें भी 'मैनर' है पर 'मैनरिज्म' नहीं। अच्छे साहित्यमें एक प्रकारकी विशेष आकृति-प्रकृति है सही, परन्तु उसके भीतर एक ऐसी सुषमा होती है, जिसके कारण आकृति-प्रकृतिकी विशेषता पर दृष्टि ही नहीं पड़ती। उसके भीतर एक भाव और एक गूढ़ प्रभाव रहा है, किन्तु कोई अपूर्व भाव-भङ्गी नहीं होती। लहरोंकी लड़ी टूटनेके बिना बहुधा परिपूर्णता भी नजरसे छिप जाती है और कभी-कभी परिपूर्णताके न होनेके कारण तरंग भी लोगोंको विचलित कर देती है। इसीलिये कोई यह भूलकर न कह बैठे कि परिपूर्णताकी प्राञ्जलता ही सहज है और अधूरेपनका आडम्बर ही कठिन है।

स्रोतस्विनीकी ओर फिरकर मैंने कहा—उच्च श्रणीका सरल साहित्य बहुत समय समझना इसलिये कठिन हो जाता है, कि मन उसे समझ लेता है, पर अपनेको उसे नहीं समझाता।

दीप्तिने कहा—नमस्कार है! आज हमने यथेष्ट शिक्षा पाई है। फिर कभी उच्च श्रेणीके पण्डितोंके सामने उच्च श्रेणीके साहित्यके विषयमें अपना मत प्रकट करनेकी बर्बरता नहीं करूँगी।

स्रोतस्विनीने उसी अंग्रेज कविका नाम लेकर कहा—तुम जितना ही तर्क करो, जितना ही गाली-गलौज दो, उस कविकी कविता मुझे तनिक भी पसन्द नहीं आती।

दसवीं बैठक

शीत-कालमें एक दिन सवेरे "खजूरका रस" पुकारता हुआ एक फेरीवाला चला जा रहा है। भोरका धुँधलापन और कुहरा अभी साफ नहीं हुआ है और बाल-अरुणकी उपभोग योग्य आतप्त किरणें पूर्व क्षितिजसे झाँक रही हैं। समीर चाय पीते हैं, क्षिति समाचार-पत्र पढ़ती है और व्योम गलेमें बहुरंगी कनपट्टी लपेटे एक बेहद मोटी लाठी लिये हुए अभी उपस्थित हुए हैं।

पास ही द्वारके निकट खड़ी होकर स्रोतस्विनी और दीप्ति एक दूसरेकी कमरमें हाथ डाले हुए किसी विषय पर ठहाका मारकर हँसती-हँसती ठट्ठा करती लोट-पोट हो रही थीं। क्षिति और समीर

समझते थे, कि यह उत्कट-नील-हरित-लोमराशिपरिवृत्त सुखासीन निश्चिन्त व्योम ही इस हास्यरसोच्छ्वासके मूल कारण हैं।

इतनेमें ही अन्यमनस्क व्योमका ध्यान भी उस हँसीके फव्वारे की ओर आकर्षित हुआ। कुर्सी हमारी ओर जरा फेरकर उन्होंने कहा—दूरसे किसी अपरिचित आदमीको भ्रम हो सकता है कि दो सखियाँ किसी बात पर हँसी-मजाक कर रही हैं; परन्तु वास्तवमें यह माया है। पक्षपाती विधाताने पुरुष जातिको बिना हास्य-प्रसंगके हँसनेकी शक्ति ही नहीं दी है, परन्तु स्त्रियोंमें ऐसी शक्ति है, कि वे यों ही हँसा करती हैं। कब किस लिये हँसती हैं यह "देवोऽपि न जानाति कुतो मनुष्यः" मनुष्योंके लिये समझना कठिन है। चकमक पत्थरमें प्रकृतिका दिया हुआ अग्निस्फुलिङ्ग नहीं होता, बल्कि उसे जोरसे घिसनेसे अग्निकण बाहर निकलते हैं, परन्तु माणिकका टुकड़ा अपने आप जगमगाता रहता है। किसी उपयुक्त उपलक्ष्यकी अपेक्षा नहीं करता। स्त्रियां एक साधारण-सी बात पर हँसना जानती हैं और बिना कारण ही रो भी देती हैं। कारण बिना कार्य्य नहीं होता, यह कठिन नियम केवल पुरुषके लिये ही लागू है।

समीर प्यालेको खालीकर प्यालेको फिर भरते हुए बोले—केवल स्त्रियोंकी हँसी ही नहीं, हास्यरस ही मुझे किंचित् असंगत प्रतीत होता है। दुःखमें रोते हैं और सुखमें हँसते हैं, इतना तो मैं अच्छी तरह समझता हूँ, परन्तु समझमें नहीं आता कि हँसी-मजाक पर हम क्यों हँसें, वह तो ठीक-ठीक सुख नहीं है। कोई मोटा आदमी, चौकीके टूट जानेसे यदि गिर पड़े, तो हमें तो कोई सुख नहीं होता; परन्तु यह निश्चय है कि हम

हँसे बिना न रहेंगे। विचारकर देखें तो इस विषयपर हमें आश्चर्य्य होगा।

क्षितिने कहा—रक्खो अपने विचारको! बिना विचारे आश्चर्य्य करनेकी बातें संसारमें बहुत हैं। पहले उन्हीं पर आश्चर्य्य करो तो पीछे विचारकर आश्चर्य्य करना। कोई पागल अपने घरका फर्श साफ करनेके लिये पहले अच्छी तरह झाड़ूसे झाड़ता है, इतनेसे जब उसे सन्तोषजनक फल नहीं मिलता, तो कुदालसे उसे खुरचना आरम्भ करता है। वह समझता है, धूल और मिट्टीमें पृथ्वीको खुरचकर आकाशमें फेंक देनेपर उसे एक दिव्य धूलिरहित फर्श मिलेगा। कहनेकी आवश्यकता नहीं, उसका सभी परिश्रम निष्फल होता है। भाई समीर! यदि आश्चर्य्यके ऊपरी भागको झाड़कर अन्तमें सोच कर आश्चर्य्य करने लगो, तो मुझे मित्रमंडलीसे विदाई दो। "कालेह्य निरवधिः" किन्तु वह निरवधि काल हमारे हाथ नहीं है।

समीरने हँसकर कहा—भाई क्षिति, मेरी अपेक्षा तुम्हीं अधिक सोचा करते हो। यदि अच्छी तरह विचारकर देखा जाता, तो तुम्हीं सृष्टिकी एक बड़ी आश्चर्य्यजनक वस्तु प्रतीत होते। और तुम यदि अधिक न सोचते, तो उस फर्श साफ करनेवाले बंगलेके आदर्शसे मेरी तुलना करनेकी भी कल्पना न करते।

क्षितिने कहा—क्षमा करना भाई, तुम मेरे बहुत दिनके पुराने मित्र हो। इसीलिये मेरे मनमें इतना सन्देह हुआ था खैर, जो हो, प्रश्न यह था कि मजाकपर हम इतना हँसते क्यों हैं? सचमुच बड़े आश्चर्य्यकी बात है! इसके बाद यह प्रश्न उठता है कि किसी भी कारण पर हम हँसते क्यों हैं? कोई

अच्छी लगने लायक बात ज्योंही हमारे सामने आयी, कि तुरन्त हमारे गलेके भीतरसे अद्भुत शब्द बाहर होने लगता है और हमारे मुखकी सारी मांसपेशियाँ विकृत हो जाती हैं, एवं दाँत बाहर निकल आते हैं। मनुष्य जैसे सभ्य जीवके लिये ऐसी असंगत और असंयत मुद्रा-विकृति, यह क्या— कम आश्चर्य और अपमान की बात है? यूरोपके भद्रलोग भय और दुःखके चिह्नको प्रकट करनेमें लज्जा समझते हैं। हमारी प्राच्य जातिका सभ्य समाज हँसी मजाकके चिह्नोंको प्रकट करना बड़े असंयमका आचरण समझता है।

समीरने क्षितिको बीच ही में रोककर कहा—इसका कारण यह है कि हमलोगोंके मतके अनुसार कौतुकको मनोरंजन समझना असंगत और भ्रान्तिमूलक है। वह लड़कोंको ही शोभता है और उन्हींके लायक है। इसीलिये कौतुक मात्रको ही हमारे देशके प्रवीण विद्वान् लड़कपन कहकर उससे घृणा करते हैं। किसी गानमें सुना था कि कृष्णजी नींदसे उठकर सवेरे हाथमें हुक्का लेकर, राधाकी कुटियामें आग लेने गये थे, इस बातको सुनकर श्रोतृमंडली हँसकर लोट-पोट हो गयी। परन्तु हुक्का हाथमें लिये हुए कृष्णकी कल्पना न तो सुन्दर ही है और न किसीको आनन्ददायक ही है, तो भी जब हम हँसते हैं और उसमें आनन्द पाते हैं, तो हम लोगोंका यह आचरण हास्यजनक और अमूलक नहीं है तो क्या है? इसीलिये हमारा विज्ञसमाज इस प्रकारकी चपलताका अनुमोदन नहीं करता। कौतुक-हास्य एक प्रकारका शारीरिक आचरण है, यह मांसपेशी और स्नायुकी उत्तेजना मात्र है। इसके साथ हमारे सौन्दर्य्य बोध,

बुद्धि-वृत्ति यहाँ तक कि स्वार्थ-बोधका भी कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये निरर्थक साधारण कारणोंको लेकर थोड़ी देरके लिये बुद्धिको इस्तीफा दे देना, और धैर्य्यको खो देना, ज्ञानी पुरुषोंके लिये निस्सन्देह लज्जाजनक है।

क्षितिने कहा—यह बात तो ठीक है। किसी अख्यातनामा कविकी यह कविता शायद तुम लोगोंको मालूम होगी।

'अंधा गुरु बहरा चेला, मांगे गुड़ लावे ढेला।' प्यासा आदमी जब एक लोटा पानी मांगता और उस समय कोई आदमी यदि आधा बेल लाकर उसके सामने रख देता, तो दूसरे लोगों का उसपर हँसने और खुशी मनानेका कोई धर्म संगत या युक्ति-संगत कारण नहीं देखा जाता। प्यासे की प्रार्थनाके अनुसार यदि वह एक लोटा पानी लाकर सामने रख देता तो समवेदना-वृत्तिके प्रभावसे हमारा उल्लास युक्तिसंगत होता—हम आनन्द अनुभव कर सकते थे। परन्तु जब वह झटपट बेलका एक टुकड़ा लाकर सामने रख देता है तो मैं नहीं समझता कि किस वृत्तिके प्रभावसे हमें हँसी आती है—हमारा चेहरा खिल जाता है। इस सुख और कौतुकके बीच जब श्रेणीगत पार्थक्य है, तब दोनोंके भिन्न-भिन्न रूप-विभाग होने चाहियें; परन्तु प्रकृतिका प्रबन्ध ही ऐसा है कि कहीं तो आवश्यकतासे अधिक खर्च और कहीं आवश्यकताकी भी पूर्ति नहीं होती। एक ही हँसीसे सुख और कौतुक दोनोंका ही काम निकाल लेना उचित नहीं हुआ है।

व्योमने कहा—प्रकृतिके मत्थे व्यर्थका दोष मढ़ते हो। सुखमें हम स्मितहास्य करते हैं और कौतुकमें हम अट्टहास्य कर उठते हैं। भौतिक जगतमें आलोक और वज्रसे इसकी तुलना की जा सकती

है। एक आन्दोलनजनित और स्थायी है, दूसरा संघर्षजनित और आकस्मिक है। मैं समझता हूं कि यदि किसी ऐसे सिद्धान्त का आविष्कार हो जाय कि एक ही ईथरसे भिन्न-भिन्न कारणों द्वारा आलोक और विद्युत उत्पन्न होते हैं तो इसी सिद्धान्तका अनुसरण करके हमलोग सुख-हास्य और कौतुक-हास्यका कारण निकाल लेंगे।

समीरने व्योमकी विचित्र कल्पना पर कान न देकर कहा— आमोद और कौतुक यथार्थ सुख नहीं हैं, वह निम्न श्रेणीके सुख हैं। अल्प परिमाणमें दुःख और पीड़न हमारी चेतनाके ऊपर जो आघात करते हैं, उससे हमें सुख हो सकता है। प्रतिदिन नियमित समय पर बिना कष्टके हमलोग रसोइयेका बनाया भोजन खाते हैं, उसे हमलोग आमोद नहीं कहते; परन्तु जिस दिन हम-लोग 'बन-भोज' करते हैं, उस दिन नियम तोड़ कर, कष्ट सह कर, असमय पर अखाद्य आहार करते हैं और उसीको आमोद कहते हैं। आमोदके लिये जितना कष्ट और झंझट हमलोग उठाते हैं, उससे हमारी चेतनाशक्ति उत्तेजित हो जाती है। कौतुक भी उसी श्रेणीका मनोरंजक दुःख है। श्रीकृष्णके सम्बन्धमें चिरकालसे हमारे हृदयमें जैसी धारणा जम गयी है, उसके विरुद्ध जब हम ऐसी कल्पना करते हैं कि वह हुक्का हाथमें लिये हुए राधाकी कुटिया पर आग लेने जा रहे हैं, तब एकाएक हमारी पहली धारणाको चोट पहुँचती है। वह आघात थोड़ा पीड़ा-दायक होता है; किन्तु उस पीड़ाका परिणाम इतना सीमित होता है कि उससे हमें जिस परिमाणमें दुःख होता है, हमारी चेतनाके एकाएक चञ्चल हो जानेके कारण उसकी अपेक्षा अधिक

सुख होता है। उस सीमाको थोड़ा भी पार कर जाने पर वह कौतुक वास्तविक पीड़ाके रूपमें परिणत होता है। यदि वास्तविक भक्तिके कीर्त्तनके अवसर पर कोई अल्हड़ रसीला लड़का एकाएक श्रीकृष्णकी काल्पनिक ताम्र-कूट-पिपासाका गान गाता तो उससे हँसी न आती, क्योंकि उस समय वह चोट इतनी कड़ी होती कि तुरत वह क्रोधका और उत्तेजनाका रूप धारण करके उक्त रसिक छोकड़ेकी पीठकी ओर प्रतिघातकी इच्छासे दौड़ पड़ती। अतएव मेरी समझमें कौतुक और चेतनाका पीड़न एक ही चीज है, आमोद भी इसीका नाम है। इसलिये स्मित-हास्यसे वास्तविक आनन्द प्रकट होता है और उच्च हास्यसे आमोद और कौतुक। यह हास्य मानों सहसा एक तेज़ आघातकी पीड़ासे आवाज करता हुआ उछल उठता है।

क्षितिने कहा—तुम जब एक मन-चली थियोरी (सिद्धान्त) के साथ कोई मन-चली उपमा जोड़ देते हो, तब उसके आमोदमें हमें सत्यासत्यका ज्ञान ही नहीं रहता। यह तो सभी जानते हैं कि कौतुकके अवसरपर हम केवल उच्च हास्य ही नहीं करते, बल्कि स्मित हास्य भी किया करते हैं। कभी-कभी मन-ही-मन हँसते हैं। किन्तु यह बात तो गौण है। मुख्य बात यह है कि कौतुकसे हमारा चित्त उत्तेजित हो जाता है और चित्तकी स्वल्प उत्तेजना हमारे लिये सुखदायक होती है। हमारे भीतर-बाहर एक सुयुक्ति-संगत नियम और शृङ्खलाका आधिपत्य है—सभी व्यापार चिरभ्यस्त और चिरप्रत्याशित होते हैं। इस सुनियम और युक्ति राज्यके समतल क्षेत्रमें जब हमारा मन बे-रोक-टोक अपना काम करता रहता है, तब उसके अस्तित्वका हम अनुभव कर पाते हैं;

परन्तु ज्योंही उस नियमित और परिमित व्यापारके भीतर किसी नवीनता और असामञ्जस्यकी आवतारणा होती है, त्योंही हमारा चित्त-प्रवाह अकस्मात् बाधा पाकर दुर्निवार हास्य-तरंग क्षुब्ध हो जाता है। वह बाधा सुखकी नहीं है और न सौन्दर्य तथा सुविधा की ही है। वैसे ही वह स्वल्प दुःख भी नहीं है। यही कारण है कि कौतुककी वह विशुद्ध अमिश्रित उत्तेजना हमें आमोदप्रद प्रतीत होती है।

मैंने कहा—अनुभवमात्रसे ही सुख मिल सकता है, यदि उसके साथ गुरुतर दुःखभय और स्वार्थहानि न मिली हो। यहाँ तक कि डर जानेमें भी सुख है, यदि उसके साथ वास्तविक भयका कारण न मिला हो। बच्चे भूतकी कहानी बड़े चावसे सुना करते हैं। इसका कारण यह है कि हृत्कम्पनसे हमें जो उत्तेजना मिलती है, उससे हमारा चित्त चञ्चल हो जाता है। वह चञ्चलता भी आनन्ददायक होती है। रामायणमें सीताके वियोगमें रामके दुःखसे हम दुखी होते हैं। ओथेलोकी अमूलक असूया हमें दुःखद प्रतीत होती है। अपनी कन्याकी कृतघ्नताके आघातसे मर्माहत राजाकी पीड़ा देखकर हम भी दुःखित हो जाते हैं; किन्तु उन दुःख-कष्टोंसे हमारे हृदयमें यदि वेदनाका संचार न होता, तो वे काव्य हमारे निकट तुच्छ प्रतीत होते। अधिकन्तु दुःखान्त काव्य को ही हम सुखान्त काव्यकी अपेक्षा अधिक आदर देते हैं; क्योंकि दुःखके अनुभवसे हमारे चित्तमें अधिक आन्दोलन होता है। कौतुक मनमें सहसा आघात करके हमारी साधारण अनुभवक्रिया को जागरित कर देता है। इसलिये अनेकों रसज्ञ मनुष्य शरीरके ाकस्मिक आघातको परिहास समझते हैं। बंगाली स्त्रियाँ

"वासर घर" में दुलहेका कान मलकर या और किसी तरहसे पीड़ा देकर बड़ा सुख पाती हैं और इसीको हास्य-रसकी आख्या देती हैं। अकस्मात् बमकी आवाज करना हमारे देशमें उत्सवका एक अंग माना गया है और कानको बहरा कर देनेवाली झाल-करताल से जीको एकदम घबड़ाकर—मानो मधुमक्खीके छत्तेमें धुआँ लगाया गया हो—हमलोग भक्ति-रसकी अवतारणा करते हैं।

क्षितिने कहा—मित्रो ! ठहरो। बात एक तरहसे खतम हो गई। जहाँ तक पीड़नसे सुख होता है, तुम उसकी सीमा पार कर गये हो। इस समय कष्ट बढ़ता जा रहा है। हम खूब समझते हैं, 'कमेडी' की हँसी और 'ट्रेजेडी' का आँसू दुःखके तार-तम्यपर निर्भर करती है।

व्योमने कहा—जैसे बरफके ऊपर पहले-पहल धूप पड़नेपर वह चमकने लगता है और धूपकी गर्मी बढ़नेपर वह गल जाता है, यही न ? अच्छा, दो-एक हास्य-रस और करुण-रसके नाटकोंका नाम लो, मैं उनमें से दृष्टान्त खोजकर निकाल देता हूँ।

इतनेमें दीप्ति और स्रोतस्विनी हँसती हुई वहाँ आ उपस्थित हुईं। दीप्तिने कहा—तुमलोग क्या, प्रमाण करनेके लिये कमर कसे हो ?

क्षितिने कहा—हमलोग प्रमाण करते थे कि तुम दोनों बिना कारणके ही हँस रही हो।

सुनकर दीप्तिने स्रोतस्विनीकी ओर देखा और स्रोतस्विनीने दीप्तिकी ओर। फिर दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

व्योमने कहा—मैं प्रमाण करनेको था कि हमलोग 'कमेडी' में

दूसरेकी कम पीड़ा देखकर हँसते हैं और 'ट्रेजेडी' में दूसरेकी अधिक पीड़ा देखकर रोते हैं।

दीप्ति और स्रोतस्विनीके मधुर एवं सम्मिलित हास्य-रससे फिर कमरा गूँज उठा और व्यर्थमें हँसीको उभाड़नेके कारण दोनों एक-दूसरेको धमकाती हुई लज्जासे कमरेसे बाहर निकल गईं।

पुरुषोंकी सभ्य-मण्डली इस अकारण हास्योच्छ्वासको देखकर स्मित हास्य करती हुई अवाक् रह गई। परन्तु समीर गम्भीरता-पूर्वक बोले—व्योमजी, बहुत दिन चढ़ आया। अब तुम इस रंगीले नागपाशका बन्धन खोल डालो, तो स्वास्थ्यकी कोई हानि न होगी।

क्षितिने व्योमकी लाठीको उठाकर बहुत देर तक ध्यानपूर्वक देखते हुए कहा—व्योमजी, तुम्हारा यह मुद्गर क्या किसी 'कमेडी' का विषय है या 'ट्रेजेडी' का साधन ?

ग्यारहवीं बैठक

उस दिनकी डायरीमें हमलोगोंकी कौतुक-हास्य-सम्बन्धी आलोचना पढ़कर दीप्तिने लिख भेजा—"एक दिन सबेरे मैं और स्रोतस्विनी दोनों मिलकर हँस रही थीं। क्या ही मनोहर वह प्रातःकाल था और क्या ही विचित्र दोनों सखियोंकी हँसी थी ? संसारकी सृष्टिसे लेकर आज तक, चपलता अनेकों स्त्रियोंमें पाई गई है और इतिहासमें उसका भला-बुरा परिणाम अनेक रूपोंमें स्थायी है। स्त्रीकी हँसी अकारण हो सकती है, किन्तु उसीसे अनेक

मन्दाक्रान्ता, उपेन्द्रवज्रा—यहाँ तक कि शार्दूल-विक्रीड़ित छन्द तथा कितने ही त्रिपदी, चतुष्पदी और चतुर्दशपदी आदिकी उत्पत्ति हुई है। इसके अनेकों प्रमाण मिल सकते हैं। स्त्री अपने सरल स्वभावके कारण अनायास हँसती है और उसे देख-देखकर अनेकों पुरुष यों ही रोया करते हैं। कितने ही पुरुष गलेमें घड़ा बाँधकर डूब मरते हैं, अनेक पदोंकी तुकबन्दी करने बैठ जाते हैं और अनेक तरस कर रह जाते हैं। इस बार मुझे एक नया अनुभव हुआ है कि स्त्रियोंकी हँसी देखकर अनेक प्रवीण फिलासफरों (दार्शनिकों) के मस्तिष्कसे फिलासफी (दर्शन) उबल उठती है। परन्तु सच पूछो, तो तत्त्व निर्णयकी अपेक्षा पहले कहीं तीन प्रकारकी अवस्थाएँ अच्छी हैं।"

इतना लिखकर दीप्तिने उस दिनके हमलोगोंके हास्य-सम्बन्धी सिद्धान्तको एकबारगी युक्तिहीन और अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया।

निवेदन करनेकी मेरी पहली बात यह है कि हमलोगोंके उस दिनके तत्त्वमें किसी युक्तिकी प्रबलता न थी। इसलिये श्रीमती दीप्तिका क्रोध करना उचित नहीं हुआ है; क्योंकि नारी-हास्यसे पृथ्वीपर जितने अनर्थ होते रहते हैं, उनमें बुद्धिमानका बुद्धि-भ्रंश भी एक है। जिस अवस्थापर हमारा फिलासफीका प्रलाप पहुँच गया था, उस अवस्थामें यदि हम चाहते, तो कविता भी लिखने बैठ जाते और गलेमें रस्सी बाँधकर डूब मरना भी असम्भव न था। दूसरी बात यह है कि उनके हास्यसे हमलोग तत्त्व खोज निकालेंगे—इस बातकी जैसे उन लोगोंने कल्पना न की थी, उसी

प्रकार हमलोगोंने भी कल्पना न की थी कि वे हमलोगोंकी तत्त्वाव-लोचनासे युक्ति खोज निकालनेकी चेष्टा करेंगी।

न्यूटनने अपने जीवन-भरके सत्यान्वेषणके बाद कहा था कि "मैं ज्ञान-समुद्रके तटपर केवल कङ्कड़ बटोर रहा हूँ।" हमलोग चार बुद्धिमान मिलकर क्षण-भरके कथोपकथनसे कङ्कड़ बटोरनेकी भी आशा नहीं कर सकते। हम तो सिर्फ बालूकी दीवार खड़ी करते हैं। इसी बहाने ज्ञान-समुद्रके किनारे जाकर थोड़ा समुद्र-वायु सेवन कर आते हैं। बस, यही हमारी तत्त्वालोचनाका उद्देश्य है। रत्न तो नहीं ले आते, परन्तु स्वास्थ्य जरूर लाते हैं। इसके अलावा हमें कभी इस बातकी चिन्ता नहीं रहती कि बालूकी दीवार रहेगी या ढह जायगी।

मैं इसे स्वीकार नहीं करता कि रत्नकी अपेक्षा स्वास्थ्य कम मूल्यवान है। बहुत समय रत्न नकली सिद्ध होता है, किन्तु स्वास्थ्यको स्वास्थ्यके सिवा और कुछ नहीं कह सकते। हमलोग पंचभौतिक सभाके पाँच सदस्य मिलकर आज तक किसी दमड़ी-छदामके सिद्धान्तपर भी पहुँचे होंगे, ऐसा भरोसा मुझे नहीं है। तथापि जितनी बार हमारी सभा बैठी है, हमारी चेतनाशक्ति और मनोवृत्तियाँ चञ्चल हो गई हैं और उसीसे हमें आनन्द और आराम मिला है, इसमें सन्देह नहीं। इस आनन्दके कारण हमारे खाली हाथ घर लौटनेका खेद एकदम दूर हो गया है।

किलेके मैदानमें एक छटाँक अनाज पैदा नहीं होता, तो भी जमीन व्यर्थ नहीं है। हमारी पंचभौतिक सभा भी हम पाँचोंका किलेका मैदान है। वहाँ हमलोग सच्चा अन्न पैदा करने नहीं जाते, बल्कि सच्चा आनन्द उठाने जाते हैं।

इसलिये इस सभामें यदि किसी बातकी पूरी मीमांसा न हो, तो कोई हानि नहीं। सत्यका कुछ अंश पानेपर भी हमारा काम चल जाता है। यहाँ तक कि सत्यके खेतको गहराई तक न जोत कर उसके ऊपर हलके पाँवसे चले जाना ही हमारा उद्देश्य होता है।

और, दूसरी ओरसे भी एक उदाहरण देकर मैं इस बातको साफ कर देना चाहता हूँ। रोगके समय डाक्टरकी दवासे बड़ा उपकार होता है, परन्तु स्वजनोंकी सेवासे रोगीको अधिक आराम मिलता है। जर्मन पण्डितोंकी पुस्तकोंमें तत्त्व-ज्ञानके जो चरम सिद्धान्त हैं, उन्हें औषधकी गोली कह सकते हैं; परन्तु उनमें मानसिक सुश्रूषा कुछ भी नहीं है। पंचभौतिक सभामें हमलोग जिस प्रकार सत्यालोचना करते हैं, उसे रोगकी चिकित्सा भले ही न कहें, परन्तु उसे रोगीको सुश्रूषा कहना ही पड़ेगा।

अब ज्यादे उपमाकी जरूरत नहीं। असल बात यह है कि उस दिन हम चार विद्वानोंने मिलकर हास्यके सम्बन्धमें जो बातें छेड़ी थीं, उनमें कोई भी हल नहीं हुई। यदि किसी बातके निष्कर्ष तक अग्रसर होनेकी हमलोग चेष्टा करते, तो सभाके कथोपकथन सिद्धान्तका उल्लंघन करते।

कथोपकथन सभाका एक प्रधान नियम है—सहज और द्रुत-वेगसे अग्रसर होना—अर्थात मानसिक दौड़ लगाना। यदि हमारे पैरोंमें तला न होता, दोनों पैर यदि बर्च्छोंकी तरह नोकीले होते, तो मिट्टीकी ओर हम बहुत नीचे तक प्रवेश कर सकते थे, पर एक डग आगे न बढ़ सकते थे। कथोपकथन सभामें यदि हमलोग प्रत्येक बातकी तह तक पहुँचनेकी चेष्टा करते, तो एक जगह अवश

होकर अड़ जाते। कभी-कभी ऐसी अवस्था हो जाती है कि चलते-चलते हम कीचड़में धँस जाते हैं। वहाँ ज्यों-ज्यों हम पैर फेंकते हैं, वह त्यों-त्यों धँसता जाता है—चलना कठिन हो जाता है। कितने विषय ऐसे भी होते हैं, जिनकी आलोचना करते समय प्रतिक्षण तहकी ओर अपने-आप बढ़ते जाना पड़ता है। कथोपकथनके समय ऐसे अनिश्चित् सन्देहपूर्ण विषयोंकी ओर पैर ही न बढ़ाना चाहिये। वह जमीन वायु-सेवी पर्यटनकारी सभ्य लोगोंके लिये उपयोगी नहीं है। खेती जिनका व्यवसाय है, उन्हींके लिये वह उपयुक्त है।

खैर, जो हो! वास्तवमें हमारे उस दिनके प्रश्नका तात्पर्य यह था कि जैसे दुःखकी रुलाई होती है, वैसे सुखकी हँसी भी होती है। परन्तु बीचमें कौतुककी हँसी कहाँसे कूद पड़ी? कौतुक एक रहस्यपूर्ण वस्तु है। जीव-जन्तु भी सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, पर वे तो कौतुकका अनुभव नहीं करते। अलंकार-शास्त्रमें जिन कई एक रसोंका उल्लेख है, वे सभी इन जन्तुओंके अपरिणत, अपरिष्कृत साहित्यमें मिलते हैं, केवल हास्य-रस ही नहीं मिलता। कुछ-कुछ बन्दरकी प्रकृतिमें इस रसका आभास पाया जाता है, किन्तु बन्दरके साथ मनुष्यका अनेक विषयोंमें सादृश्य है।

जो आचरण असंगत है, उससे मनुष्यको दुःख पाना चाहिये। उसमें हँसी आनेकी कोई जरूरत न थी। पीछे जब चौकी नहीं है, तब चौकीपर बैठता हूँ, ऐसा ख्याल करके, यदि कोई जमीनपर गिर पड़े, तो इस पर दर्शक मंडलीको सुख प्राप्त होनेका मैं कोई युक्ति-संगत कारण नहीं ढूँढ़ पाता। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

कौतुक मात्र ही में एक ऐसा दुःख होता है, जिससे मनुष्यको सुखी न होकर दुखी होना चाहिये।

हम लोगोंने उस दिन बातों ही बातोंमें इसका एक कारण ठीक किया था। हम लोग कहते थे कि कौतुककी हँसी और आमोदकी हँसी एक ही श्रेणीकी हैं, दोनों प्रकारके हास्योंमें प्रबल भाव है। इसीलिये हमें सन्देह हुआ था, कि शायद आमोद और कौतुकके भीतर कोई स्वाभाविक एकता है, उसीको प्रकट करनेसे कौतुक रहस्यका भेद खुल जा सकता है।

साधारण प्रकारके सुखके साथ आमोदका कुछ पार्थक्य है। नियम भंगके साथ जो एक पीड़ाका उद्रेक होता है, यदि वह पीड़ा न होती, तो आमोद नहीं हो सकता था। आमोद नित्य नैमित्तिक और सहज नियम-संगत नहीं है। वह कभी किसी दिन हो जाया करता है और उसका उद्रेक करनेके लिये प्रयासकी आवश्यकता पड़ती है। उस पीड़न और प्रयासके संघर्षसे मनमें जो एक प्रकारकी उत्तेजना होती है, वही आमोदका मूल साधन है।

हम लोगोंने कहा था कि कौतुकमें भी एक नियम भंग-जनित पीड़ा है। वह पीड़ा यदि बहुत अधिक परिमाणमें नहीं हो, तो हमारे मनमें एक ऐसी उत्तेजना होती है, कि उस आकस्मिक उत्तेजनाके आघातसे हम बिना हँसे नहीं रह सकते। जो व्यवहार सुसंगत होता है, वह सर्वदा विषम संगत नहीं रहता है और जो असंगत होता है, थोड़े ही में उसका नियम भंग हो जाता है। यथा-समय और यथास्थान यदि सभी घटनायें नियमानुसार घटती जायँ तो मनमें किसी प्रकारकी उत्तेजना नहीं होती, परन्तु जब वे ही घटनायें अकस्मात् होती हैं, या होती ही नहीं, या होती भी हैं, तो

किसी दूसरे ढङ्गसे ; तब इस आकस्मिक क्षणिक पीड़ासे मनमें एक प्रकारकी चेतनाकी अनुभूति होती है और इसी कारणसे हम हँस उठते हैं।

उस दिन हमलोग यहीं तक बढ़े थे—आगे न बढ़ सके थे। किन्तु आगे कुछ कहना बाकी न रह गया, सो बात नहीं। अभी बहुत कुछ कहा जा सकता है।

श्रीमती दीप्तिने पूछा—यदि हमारे चार पण्डितोंका सिद्धान्त सत्य मान लिया जाय, तब तो रास्ता चलते धक्का ठोकर खाने अथवा तनिक दुर्गन्ध आनेपर हमें हँसी आनी चाहिये थी, कमसे कम उत्तेजना-जनित सुख तो जरूर ही होना चाहिये था।

इस प्रश्नके द्वारा हमारी मीमांसाका खंडन नहीं होता। हाँ, वह सीमित हो जाती है। इस प्रश्नसे सिर्फ यही सिद्ध होता है, कि पीड़न मात्रसे ही कौतुकजनक उत्तेजना नहीं उत्पन्न होती। अतएव यहां देखना चाहिये, कि कौतुक पीड़नका प्रधान साधन क्या है ?

जड़ प्रकृतिमें करुणरस भी नहीं है और हास्यरस भी नहीं। एक बड़ा पत्थर छोटे पत्थरको पीस डालता है, तो भी हमें दया नहीं आती और समतल क्षेत्रमें चलते-चलते जब हम एक विचित्र पर्वत-शिखर देखते हैं, तब भी उसे देखकर हमें हँसी नहीं आती।

नदी-नाले, पर्वत, समुद्र इत्यादिके भीतर कभी-कभी आकस्मिक असामञ्जस्य देखा जाता है, वह बाधाजनक, विरक्ति-जनक और पीड़ा-जनक भले ही हो, पर कौतुकजनक तो कभी नहीं

होता। सचेतन पदार्थ सम्बन्धी असंगत घटनाओंके सिवा सिर्फ जड़ पदार्थों द्वारा ही हमें हँसी नहीं आती।

क्यों नहीं आती, इसका कारण निश्चय कर कहना कठिन है, पर आलोचना कर देखनेमें हर्ज ही क्या है।

हमारी भाषामें कौतुक और कौतूहल शब्दके अर्थमें सम्बन्ध है। संस्कृत साहित्यमें बहुत जगह एक अर्थमें दोनों शब्द विकल्पसे प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कौतूहल वृत्तिके साथ कौतुकका विशेष सम्बन्ध है।

कौतूहलका एक प्रधान अंग है—नवीनकी स्पृहा। नवीनता कौतुकका भी एक प्रधान उपकरण है। असंगतके भीतर जैसी विशुद्ध नवीनता होती है, वैसी संगतके भीतर नहीं होती।

किन्तु पदार्थ-असंगतिसे इच्छा शक्तिका विशेष सम्बन्ध है। यह संबन्ध जड़ पदार्थके भीतर नहीं होता। यदि साफ रास्तेसे चलता हुआ सहसा दुर्गन्ध पाऊँ, तो मुझे निश्चय हो जायगा कि पास ही कहीं दुर्गन्ध अवश्य है—इसीलिये ऐसा होता है। मैं सावधान हो जाता हूं, किसी प्रकारकी मानसिक उत्तेजना नहीं होने पाती। जड़ प्रकृतिमें जिन कारणोंसे जो कार्य हो रहे हैं, उनमें किसी प्रकारका परिवर्त्तन नहीं हो सकता। यह स्थिर सिद्धान्त है।

किन्तु रास्ता चलते यदि एकाएक देखें कि एक बड़ा बूढ़ा आदमी खेमटा नाच रहा है, तो वास्तवमें वह हमें असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि वह जरूरी और नियमानुकूल नहीं है। बूढ़ेसे इस प्रकारके आचरणकी कभी प्रत्याशा नहीं करते; क्योंकि

उसमें इच्छाशक्तिका अस्तित्व है। वह जान बूझकर नाच रहा है। वह यदि चाहता तो न नाचता। जड़में कोई पदार्थ शायद अपनी इच्छाके अनुसार नहीं होता। इसीलिये जड़में कोई चीज असंगत और कौतुकप्रद नहीं प्रतीत होती। यही कारण है, कि अप्रत्याशित ठोकर और दुर्गन्ध हास्यजनक प्रतीत नहीं होते। चायका चम्मच यदि अकस्मात् चायके प्यालेसे उछल कर दावातकी स्याहीमें गिर पड़े, तो यह चम्मचके लिये हँसीकी बात नहीं होगी, क्योंकि माध्याकर्षण शक्तिके नियमका उल्लंघन करना उसके वशकी बात नहीं है। परन्तु यदि कोई अन्यमनस्क लेखक अपने चायके चम्मचको दावातमें डुबाकर चा पीनेकी चेष्टा करे, तो यह जरूर ही हँसीकी बात होगी। जैसे नीति जड़ पदार्थमें नहीं है, वैसे ही असंगति भी जड़में नहीं है। मनः-पदार्थ जहां प्रवेश कर सन्देह उत्पन्न कर देता है, वहीं औचित्य-अनौचित्य, संगत और असंगतका प्रश्न उठता है।

कौतूहल अनेक अवसरों पर बहुत ही कठोर प्रतीत होता है। सिराजुद्दौला दो आदमियोंकी दाढ़ीको एक-दूसरेसे बाँधकर उनकी नाकोंमें सूँघनी ठूँस देते थे। ऐसा प्रवाद सुना जाता है। दोनों जब छींकने लगते, तो सिराजुद्दौलाको बड़ी प्रसन्नता होती थी। इसमें तो असंगतिका लेश भी नहीं है। नाकमें सूँघनी डालनेसे छींक तो आयेगी ही। किन्तु यहाँ भी इच्छाके साथ कार्य्यका असामञ्जस्य है। जिनकी नाकोंमें सूँघनी दी जाती है, वे नहीं चाहते कि छींकें, क्योंकि छींकते ही उनकी दाढ़ीमें तुरत खिंचाव पड़ता है। इतने पर भी उन्हें छींकना ही पड़ता है।

इसी प्रकार इच्छाके साथ अवस्थाकी असंगति, उद्देश्यके

साथ उपायकी असंगति और बातके साथ कार्य्यकी असंगति होनेमें निष्ठुरताका परिचय मिलता है। बहुत समय जिसके विषयमें हम हँसी करते हैं, वह अपनी अवस्थाको हास्यका विषय नहीं समझता। इसीलिये पाँच भौतिक सभामें व्योमने कहा था, कि कमेडी और ट्रेजेडी सिर्फ पीड़नके भिन्न-भिन्न परिमाण हैं। कमेडीमें जिनकी निष्ठुरता प्रकट होती हैं, उससे हमें हँसी आती है और ट्रेजेडीमें पीड़न की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि हमें रुलाई आ जाती है। टाईटेनिया (घोड़ी) एक अपूर्व मोहके वशीभूत होकर गदहेके निकट जो आत्म-विसर्जन करती है,अवस्था भेद और पात्र भेदके कारण वही पीछे शोकका रूप धारण करता है।

असंगति ट्रेजेडीका भी एक विषय है और कमेडीका भी। इच्छाके साथ अवस्थाकी असंगति प्रकट होती है। फलस्टाफ विण्डसर वासिनी रंगिनीकी प्रेम-लालसामें निःशंक चित्तसे अग्रसर होते हैं, परन्तु बड़ी आपत्तिमें पड़कर उन्हें पीछे लौटना पड़ता है। रामचन्द्र जब रावणको मार, वनवासकी प्रतिज्ञा पूरी कर राज्यको लौट आये और दाम्पत्य सुखकी चरम सीमापर पहुँच गये, उसी समय अकस्मात् कहींसे विपत्तिके बादल टूट पड़े—गर्भिणी सीताको बाध्य होकर जङ्गलमें छोड़ना पड़ा। दोनों दृष्टान्तोंमें ही आशाके साथ फल और इच्छाके साथ अवस्थाकी असंगति देखी जाती है। इसलिये साफ प्रकट हो जाता है, कि असंगतिके दो प्रकार होते हैं, एक हास्यजनक और दूसरा दुःखजनक। विरक्तिजनक, विस्मय-जनक, दोष-जनकको भी हम दूसरी श्रेणीमें गिनते हैं।

अर्थात् असंगति जब हमारे मनपर हल्की चोट करती है—जब तक उसकी चोट मर्मस्थान तक नहीं पहुँचती, तबतक हमें हँसी ही

आती है, परन्तु जब वह हमारे गुह्य स्थानको हिला देती है – जब पीड़ा असह्य हो जाती है, तब हमें दुःख मालूम होता है। शिकारी जब बहुत देर तक ताक लगाये बैठे रहनेके बाद दूरकी किसी सफेद चीज पर हंसके भ्रमसे गोली चलाता है और निकट जाकर देखता है कि वह फटे हुए कपड़ेका एक चीथड़ा है,तब उसे निराशा होती है। हम भी उस पर हँसते हैं। परन्तु एक आदमी किसी वस्तुको अपने जीवनका चरम लक्ष्य मानकर उसको प्राप्त करनेके लिये निरन्तर घोर परिश्रम करता है और अन्तमें सिद्धकाम हो, उस वस्तुको हाथमें लेकर देखता है, तो उसे तुच्छ मायाजाल पाता है, ऐसी अवस्थामें हमारा भी अन्तःकरण दुखित हो जाता है।

दुर्भिक्षमें जब दलके दल लोग मरते हैं, तब हमें वह मृत्यु प्रसन्नतामय प्रतीत नहीं होती। परन्तु हम अनयास कल्पना कर सकते हैं कि किसी दिल्लगीबाज शैतानके लिये यह बड़े कौतुकका दृश्य है। वह शैतान इन अमर—आत्माओं, अति जीर्ण कलेवरोंकी ओर सहास्य दृष्टिपात करके कह सकता है, कि हमारे षड्दर्शन, तुम्हारे कालिदास काव्य, तुम्हारे तैंतीस करोड़ देवता आदि सभी कुछ तो हैं, परन्तु चावलके लिये तुम्हारी अमर आत्मायें और दिग्विजयी मनुष्यत्व एक दम कण्ठके पास धुक-धुक कर रहा है।

साफ बात यह है, कि असंगतिका तार धीरे-धीरे चढ़ाते जानेसे क्रमसे वह विस्मय, हास्य और फिर आँसूके रूपमें परिणत होता है।

बारहवीं बैठक

दीप्ति और स्रोतस्विनी उपस्थित न थीं—सिर्फ हमीं हम चार आदमी थे।

समीरने कहा—देखो, उस दिनके उस कौतुक—हास्यके सम्बन्धमें मुझे एक बात याद पड़ गयी है। अधिकांश कौतुक हमारे मनमें कोई न कोई अद्भुत चित्र खींच देते हैं और उसीसे हम लोगोंको हँसी आती है। परन्तु जो स्वभावसे ही चित्रकलासे घृणा करते हैं—जिनकी बुद्धि एबस्ट्रेक्ट (अनाविष्ट) विषयोंमें ही भ्रमण करती है, कौतुक वैसे लोगोंको विचलित नहीं कर सकता।

क्षितिने कहा—पहले तो तुम्हारा विचार ही समझमें न आया, दूसरे एबस्ट्रेक्ट शब्द अंग्रेजी है।

समीरने कहा—पहले अपराधका प्रतिवाद करनेकी चेष्टा करता हूँ, किन्तु दूसरे अपराधसे बचनेका कोई उपाय नहीं देखता। इसलिये बुद्धिमानों को इसके लिये मुझे क्षमा करना होगा। मैं कहता था, कि जो लोग द्रव्यका सम्पूर्ण बहिष्कार कर गुणोंको ही विना चेष्टाके ग्रहण कर लेते हैं, वे स्वभावतः हास्यरसके रसिक नहीं होते।

क्षितिने सिर हिलाकर कहा—ना, अभी साफ नहीं हुआ।

समीरने कहा—एक उदाहरण देता हूँ। पहली बात तो यह है—हमारे साहित्यमें किसी सुन्दरीका वर्णन करते समय चित्रकार कोई विशेष चित्र खींचनेकी ओर लक्ष्य नहीं करता। सुमेरु, दाडिम्ब, कदम्ब, निम्ब इत्यादि कई एक चुने हुए शब्दोंको

लेकर उन्हें एक लच्छेदार भाषामें शृङ्खलित कर देता है और इन्हीं शब्दोंको वह प्रत्येक सुन्दरी स्त्रीके गुणोंकी प्रशंसा करते समय व्यवहारमें लाता है। हम किसी मूर्तिका अविकल प्रति-रूप नहीं खींचते और खींचनेकी चेष्टा भी नहीं करते। इसीलिये हम लोग कौतुकके एक प्रधान अंगसे वंचित रह जाते हैं। हमारे प्राचीन काव्योंमें प्रशंसाके उद्देश्यसे सुन्दरी स्त्रीकी मन्द गतिकी तुलना गजेन्द्रगमनके साथ की गई है। यह तुलना दूसरे देशोंके साहित्यमें जरूर ही हास्यप्रद समझी जायगी। परन्तु इस प्रकारकी एक विचित्र तुलना हमारे देशमें क्यों प्रकट हुई और इसका प्रचार ही इतना क्यों बढ़ गया ? इसका प्रधान कारण यह है, कि हमारे देशके लोग द्रव्यसे उसके गुणको सहज ही अलग कर ले सकते हैं। इच्छानुसार हाथीमेंसे हाथीके सभी गुणोंको लुप्त कर सिर्फ उसकी मन्दगतिको ही बाहर निकालते हैं। इसीसे जब षोड्शी युवतीके प्रति गजेन्द्र-गमनका प्रयोग करते हैं,तब वृहदाकार जान-वरको एक बारगी देख नहीं पाते। जब किसी सुन्दर वस्तुका वर्णन करना कविका उद्देश्य होता है, तब सुन्दर उपमाके ढूँढ़ निकालने की उसे आवश्यकता होती है, केवल उपमाके उपमेय अंशोंकी ही नहीं, अन्यान्य अंशोंका भी मनमें उदय हो जाना स्वाभाविक है। इसीलिये हाथीके सूँड़के साथ स्त्रियोंके हाथ-पैरकी तुलना करना कम दुस्साहसका काम नहीं है। किन्तु हमारे देशके पाठक इस तुलनाको देखकर न हँसते हैं और न विरक्त होते हैं। इसका कारण यह है कि हाथीके सूंड़की केवल गोलाईको लेकर और सब गुणोंको छोड़ दिया गया है। यह अद्भुत शक्ति हममें है। गृद्धिनी के साथ कानकी क्या समानता है, उसे समझनेकी मुझमें कल्पना

शक्ति नहीं है। सुन्दर मुखकी दोनों ओर दो गृद्धिनी लटक रही हैं, ऐसी धारणा मैं नहीं कर सकता ; क्योंकि मेरी कल्पनाशक्ति इतनी जड़ नहीं हुई है। हो सकता है कि अङ्गरेजी पढ़नेके कारण हमारी हँसनेकी शक्तिमें ऐसा परिवर्तन हुआ हो।

दीप्तिने कहा— हमारे देशमें काव्योंमें स्त्रियोंके गठनका वर्णन करते समय जहाँ कहीं ऊँचाई और गोलाईको व्यक्त करनेकी आवश्यकता हुई है, वहीं कवियोंने अनायास गम्भीरता पूर्वक सुमेरु और मेदिनीकी अवतारणा की है। इसका एक कारण है। एवस्ट्रेक्ट भावके देशमें परिमाण विचारकी आवश्यकता नहीं है। बैलकी पीठका डील भी ऊँचा होता है और कंचनजंघाका शिखर भी ऊँचा होता है, इसलिये यदि सिर्फ एवस्ट्रेक्ट ऊँचाई को ही ग्रहण करें, तो बैलकी पीठके साथ कंचनजंघाकी तुलना की जा सकती है। किन्तु जो आभागा कंचनजंघाकी उपमा सुनकर कल्पना पटपर हिमालयके शिखरको अंकित कर लेता है, जो अभागा पर्वत शिखरकी सिर्फ ऊँचाईको ही देखकर और सभी अंगोंको छिपा नहीं सकता, उसे बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। भाई समीर, तुम्हारी आजकी बात ठीक मालूम होती है। मैं इसका प्रतिवाद नहीं कर सकती, इसलिये दुःखी हूं।

व्योमने कहा—मैं नहीं कह सकता, कि मुझे विरोधमें कुछ कहना ही नहीं है। समीरके मतको कुछ संशोधित रूपमें प्रकट करना उचित समझता हूं। असल बात यह है, कि हम लोग अन्तर्जगत् बिहारी हैं। वाह्य-जगत् हमारे लिये शक्तिशाली नहीं है। मनमें जिस बातको गढ़कर हम खड़ी कर देते हैं, वाह्य जगत् उसका प्रतिवाद कर उसे तोड़ नहीं सकता। उसका प्रतिवाद ग्राह्य

भी नहीं होता। जैसे धूम्रकेतुकी छोटी-सी पूँछ यदि किसी ग्रहके रास्तेमें आ जाय, तो उससे पूँछकी हानि भले ही हो सकती है, परन्तु ग्रहका कुछ भी नुकसान नहीं होता, वह बेरोक-टोक चला जाता है। वैसे ही बहिर्जगतके साथ हमारे अन्तर्जगतका कभी सम्पूर्ण संघात नहीं होता। यदि होता भी है, तो बहिर्जगत हार मानकर पीछे हट जाता है। जिनके निकट हाथीके अस्तित्वमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं होता, वे लोग गजेन्द्र-गमनकी उपमामें गजेन्द्रको बिना जाने-सुने बाद देकर सिर्फ गमन ही को नहीं ले सकते। गजेन्द्र अपना विशाल शरीर फैलाकर अटल भावसे काव्यका रास्ता रोके खड़ा रहता है। किन्तु हमारे निकट गज और गजेन्द्र कुछ भी नहीं है। वह हमारे निकट इतना प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं है कि सिर्फ उसके गमनको ही लेनेके लिये उसके सारे शरीरको गाड़ देना होगा।

क्षितिने कहा—

इसलिये क्या सुमेरु, क्या गजेन्द्र और क्या मेदिनी कोई भी हमें नहीं हटा सकता। काव्य ही क्यों, ज्ञान राज्यमें भी हमलोग बहिर्जगतको कुछ समझते ही नहीं। एक सीधा उदाहरण याद पड़ता है। हम लोगोंके संगीतके सातों सुर भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियोंके कण्ठस्वरसे लिये गये हैं। भारतीय संगीत शास्त्रमें यह प्रवाद बहुत दिनोंसे चला आता है। आज तक हमारे उस्ताद के मनमें इस सम्बन्धमें सन्देह भी नहीं हुआ। परन्तु बहिर्जगत अहर्निश उसका प्रतिवाद कर रहा है। स्वरमालाका पहला सुर गधेके सुरसे चुराया हुआ है, ऐसी अद्भुत कल्पना किसी बुद्धिमान के सिरमें क्यों कर समाई, इसका कारण समझना हम जैसोंकी बुद्धिसे बाहर है।

व्योमने कहा—यूनानियोंके लिये बहिर्जगत वाष्प और मरीचिकाकी भांति नहीं था। वह प्रत्यक्ष चमकता हुआ था। इसीसे उन्हें मनकी सृष्टिके साथ बाहरी सृष्टिका सामञ्जस्य रखनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता था।

इसीलिये उन्हें अपने देवी-देवताओंकी मूर्त्ति सुन्दर और भावपूर्ण बनानी पड़ी थी। यदि ऐसा न करते तो सांसारिक सृष्टिके साथ उनके मनकी सृष्टिका एक भीषण संघर्ष होता और उस संघर्षका फल यह होता कि मूर्त्ति पूजनमें वह भक्ति और आनन्द न रह जाता। हमें इसका डर नहीं है। हम अपने देवताकी चाहे जैसी भी मूर्त्ति गढ़ें, हमारी कल्पनाके साथ या बहिर्जगतके साथ उसका किसी प्रकार मत विरोध नहीं होता। मूषिक-वाहन, चतुर्भुज, एक दन्त, लम्बोदर, गजानन इत्यादि मूर्त्तियाँ हमारे लिये हास्यजनक नहीं हैं। इसका कारण यह है, कि उसी मूर्त्तिको हम अपने मनकी चिन्ताके भीतर भी देखते हैं। बहिर्जगतके साथ और उसके चारों ओरके स्थूल सत्यके साथ हम उसकी तुलना नहीं करते। क्योंकि, बहिर्जगत हमारे निकट उतना प्रबल नहीं, प्रत्यक्ष स्थूल सत्य हमारे निकट उतना कठिन और मजबूत नहीं, जितनी प्रबल और दृढ़ वह काल्पनिक मूर्त्ति हो, जिसको उपलक्ष्य बनाकर हम अपने मनके भाव और भक्ति जागरित रख सकते हैं।

समीरने कहा—जिसको उपलक्ष्य बनाकर हम प्रेम या भक्ति अथवा साधना करते हैं, उस उपलक्ष्यको सम्पूर्ण, सौन्दर्य्य अथवा स्वाभाविकतासे विभूषित और अलंकृत करनेकी हमें जरूर त पड़ती। सामने एक कुरूप और विकृत मूर्त्तिको देखकर भी हम

उसकी सुन्दरताका अनुभव कर सकते हैं। मनुष्यका गाढ़ा नील वर्ण हमें स्वभावतः सुन्दर नहीं प्रतीत हो सकता है, परन्तु जब हम कृष्णकी मूर्त्तिको गाढ़े नील रंगमें देखते हैं, तब उसे हम सुन्दर ही समझते हैं। उसकी सुन्दरता अनुभव करनेमें चेष्टा ही नहीं करनी पड़ती। वहिर्जगतके आदर्शको जो लोग अपनी इच्छानुसार लुप्त नहीं कर सकते, वे लोग यदि अपने मनके सौन्दर्य्य भावको किसी मूर्त्तिके रूपमें गढ़ने लगें, तो वे किसी प्रकार उसमें अस्वाभाविकता और असौन्दर्य्यका समावेश नहीं कर सकते। यूनानियोंकी दृष्टिमें यह नील वर्ण बहुत ही खटकता है।

व्योमने कहा—हमारी भारतीय प्रकृतिकी यह विशेषता उच्च श्रेणीकी कला विद्याके लिये बाधक भले ही हो, पर उससे कई एक सुविधायें भी मिलती हैं। भक्ति, स्नेह, प्रेम यहां तक कि सौन्दर्य्य-भोगके लिये भी हमें बाह्य जगतका दासत्व नहीं करना पड़ता, सुविधा और सुअवसरकी प्रतीक्षामें बैठे नहीं रहना पड़ता। हमारे देशकी स्त्री अपने स्वामीको देवता समझ कर पूजती है। किन्तु उसमें भक्तिभावका उद्रेक करनेके लिये स्वामीमें देवत्व और महत्वका रहना जरूरी नहीं है। यहाँ तक कि स्वामी यदि मूर्ख और पशु-प्रकृतिका हो तो भी उसकी पूजामें बाधा नहीं पड़ती है। स्त्री अपने स्वामीको तिरस्कार और धिक्कार दे सकती है, परन्तु देव-भावसे उसकी पूजा करती है। एककी प्रबलतासे दूसरा भाव दब नहीं जाता—सकुच नहीं जाता। क्योंकि हमारे मनो-जगतके साथ वाह्य जगतका संघात उतना प्रबल नहीं होता।

समीरने कहा—सिर्फ स्वामी देवता ही क्यों? हमारे पौराणिक देवी-देवताओंके सम्बन्धमें भी हमारे मनमें इसी प्रकारके दो

विरोधी भाव विद्यमान हैं। वे परस्पर एक-दूसरेको दूर नहीं हटा सकते। हमारे देवताओंके सम्बन्धमें जो पौराणिक कहानियाँ और जनप्रवाद प्रचलित हैं, हमारी धर्म-बुद्धिका उच्च आदर्श उनका अनुमोदन नहीं करता। यहाँ तक कि हमारे साहित्य और संगीतमें इन देव-निन्दाओंका उल्लेख करके बहुत तिरस्कार और परिहास किया गया है। पर चूंकि हम उनका व्यङ्ग और भर्त्सना करते हैं, इसलिये भक्ति नहीं करते, ऐसी बात नहीं। गौ को हम जानवर समझते हैं, उसकी बूझ-सूझपर भी टीका करते हैं। खेतमें पैठनेपर लाठी लेकर खदेड़ते भी हैं और गोशालेमें कमरभर गोबरके कीचड़ में खड़ी रखते हैं; किन्तु भगवती कहकर पूजा करते समय ये बातें ध्यानमें भी नहीं आतीं।

क्षितिने कहा—और भी देखो, हम लोग सर्वदा बेसुरे आदमी की तुलना गधेसे करते हैं तथापि कहते हैं, कि गधेसे ही संगीत शास्त्रका पहला अक्षर मिला है। जब हम यह बात कहते हैं तब उसे भूल जाते हैं और जब वे कहते हैं, तब इसका ध्यान छोड़ देते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हममें यह एक अद्भुत शक्ति है। किन्तु इस विशेष शक्तिका अवलम्बन करके व्योम जिस सुविधाका उल्लेख करते हैं, मैं उसे नहीं समझता। हमलोगों में काल्पनिक-सृष्टिका विस्तार करनेकी शक्ति है। इसलिये हमारे भीतर अर्थलाभ, ज्ञानलाभ और सौन्दर्यके भोगके सम्बन्धमें एक उदासीनता-सूचक सन्तोषभाव पाया जाता है। हम किसी वस्तुकी विशेष आवश्यकता नहीं अनुभव करते। यूरोपीय विद्वान् अपने वैज्ञानिक अनुभवोंको बड़ी कड़ाईसे हज़ारों बार जाँचते हैं, तो भी उनका सन्देह दूर नहीं होता। जब हम मनमें कोई विशेष सुसंगत

और सुगठित मत खड़ा कर लेते हैं, तब उसकी सुसंगति और सुषमा ही हमारे निकट सबसे बड़ा प्रमाण समझी जाती है। हम उसकी वहिर्जगतमें परीक्षा करके देखनेकी जरूरत नहीं समझते। ज्ञान-वृत्तिमें जो बात घटती है, हृदय-वृत्तिमें भी वही बात घटती है। हम सौन्दर्य-रसकी चर्चा करना चाहते हैं, परन्तु इस उद्देश्यसे यत्नपूर्वक मनके आदर्शको वहिर्जगतमें गढ़कर एक रूप दिखा देने की आवश्यकता हम नहीं समझते। अच्छा-बुरा कुछ बन जानेसे ही हम सन्तुष्ट हो जाते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी आलंकारिक अत्युक्तिका अनुसरण करके कोई विकृत मूर्त्ति खड़ी कर देते हैं और उस असंगत, विरूप और विसदृश मूर्त्तिको ही अपनी कल्पना द्वारा मनोवांछित मूर्त्तिके रूपमें परिणत कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। अपने देवताको, अपने सौन्दर्यके आदर्शको यथार्थ सुन्दर बनानेकी चेष्टा नहीं करते। भक्ति-रसकी चर्चा करना चाहते हैं, परन्तु यथार्थ भक्तिके पात्रको ढूँढ़ निकालनेकी चेष्टा नहीं करते और न आवश्यकता ही समझते हैं—अपात्रकी भक्ति करके भी हम सन्तुष्ट रहते हैं। इसलिये हम कहते हैं कि "गुरु देवता हमारे पूज्य हैं" यह नहीं कहते कि जो पूज्य हैं, वही हमारे गुरु हैं। हो सकता है कि गुरुने जो मन्त्र हमारे कानमें दिया है, वह स्वयं उसका अर्थ न जानते हों। हो सकता है कि हमारे गुरु किसी झूठे मुकद्दमेमें गवाह हैं, तथापि उनकी चरण-रज हमें मस्तकपर चढ़ानी ही होगी। यदि यह मत मान लिया जाय, तो भक्ति करनेके लिये भक्ति-भाजकको ढूंढ़नेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। बिना झंझटके हम भक्ति करते रहेंगे।

समीरने कहा—अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे हमलोग इन नियमों

का उल्लंघन कर रहे हैं। बंकिमका कृष्ण-चरित्र इसका एक दृष्टान्त है। बंकिमने कृष्णकी पूजा करने और कृष्ण-पूजाका प्रचार करनेके पहले उनको निर्मल और सुन्दर बनानेकी चेष्टा की है। यहाँ तक कि कृष्ण-चरित्रमें जितनी बातें अनैसर्गिक हैं, उन सभीको उन्होंने निकाल दिया है। उन्होंने कृष्णको उनके उच्चतम आदर्शके ऊपर प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की है। उन्होंने ऐसा नहीं कहा है कि देवताको दोष नहीं लगता, तेजस्वीके लिये सभी दोष क्षम्य हैं। एक शब्दमें उन्होंने एक नवीन असन्तोषकी सृष्टि की है, पूजा करनेके पहले उन्होंने देवताको खोजनेकी चेष्टा की है और हाथके सामने जो मिल गया है, उसीको लेकर नमोनमः नहीं करने लगे हैं।

क्षितिने कहा—यह असन्तोष न होनेके कारण ही बहुत दिनसे हमारे समाजमें देवताको देवता होने, पूज्यको उन्नत होने और मूर्तिको भावके अनुरूप परिवर्त्तित होनेकी जरूरत नहीं पड़ी है। ब्राह्मणको हम देवता समझते हैं, इसलिये बिना चेष्टाके वे देवताकी तरह पूजा पाते हैं और हमलोगोंकी भी भक्ति-वृत्ति अनायास चरितार्थ हो जाती है। स्वामी-देवताको स्त्रीकी भक्ति प्राप्त करने के लिये किसी प्रकारकी चेष्टा और उद्योगकी आवश्यकता नहीं पड़ती और स्त्रीको भी अयोग्य स्वामी मिलनेके कारण असन्तुष्ट होनेकी आवश्यकता नहीं होती। सौन्दर्य अनुभव करनेके लिये सुन्दर वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती, भक्ति दान करनेके लिये भक्ति-भाजनकी आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार अति सन्तोष की अवस्थाको हम सुविधा नहीं समझते। इससे केवल समाजकी दीनता, श्रीहीनता और अवनतिको ही प्रश्रय मिलता है। यदि

बहिर्जगतको उत्तरोत्तर विलुप्त करके मानसिक संसारको सबके ऊपर प्रधानता दी जाय, तो यह उतनी ही मूर्खता होगी, जितनी वृक्षकी डालपर बैठकर उसी डालको कुठारसे काटनेसे होगी।

तेरहवीं बैठक

स्रोतस्विनीने कहा—देखो, घरमें उत्सव है। तुम लोग व्योमसे कहो, जरा भले आदमीकी पोशाकमें आया करें।

सुनकर हम सभी हँसने लगे। दीप्तिने कुछ क्रुद्ध होकर कहा—नहीं, हँसनेकी बात नहीं, तुमलोग व्योमको ताकीद कर देना कि भद्र-समाजमें पागलकी तरह पोशाक पहने न आया करें। इन सब बातोंमें जरा सामाजिक नियम मानकर चलना अच्छा है।

समीरने बात बढ़ानेके अभिप्रायसे पूछा—क्यों, क्या चाहिये?

दीप्तिने कहा—काव्य-राज्यमें कविका शासन जैसा कठिन है, कवि जैसे छन्दकी कोई शिथिलता, मिलानकी कोई भूल, शब्दकी रूढ़ता क्षमा नहीं कर सकता, वैसे ही हमारे आचार-व्यवहार, वसन-भूषणके सम्बन्धमें समाज-शासन भी शिथिलता नहीं प्रकट कर सकता। यदि ऐसा न करे, तो समग्र समाजका छन्द और सौन्दर्य टिक ही नहीं सकता।

क्षितिने कहा—समाजको सुन्दर, शृङ्खलित और परिमार्जित बनाना हम सभीका कर्त्तव्य है, यह मैं मानता हूँ; परन्तु अन्य-मनस्क व्योम बेचारा जब इस कर्त्तव्यको भूलकर लम्बे पैर बढ़ाये धड़धड़ाता चला आता है, तब वह बुरा नहीं लगता।

दीप्तिने कहा—यदि वह अच्छा कपड़ा पहनते, तो वह देखनेमें और भी अच्छे लगते।

क्षितिने कहा—सच कहो तो सही, अच्छा कपड़ा पहननेपर व्योम क्या सचमुच अच्छे लगते हैं? और फिर हाथीको यदि ठीक मोरकी तरह पंख हो, तो क्या उसकी सुन्दरता बढ़ जाती है? और फिर मोरको हाथीकी पूंछ भी हो, तो नहीं अच्छी लगती। वैसे ही यदि व्योमको समीरकी पोशाक पहना दी जाय, तो वह उन्हें नहीं शोभती और यदि समीर व्योमकी पोशाक पहनकर आएँ, तो उन्हें घरमें घुसने भी नहीं दे सकते।

समीरने कहा—असल बात यह है कि पहनाव-ओढ़ाव और आचार-विचारकी हीनतासे जब शिथिलता, मूर्खता और जड़ता प्रकट होती है, तभी वह देखनेमें बुरी मालूम पड़ती है।

यही कारण है कि हमारा समाज इतना श्रीहीन और कदर्य है। बंगाली समाज जैसा भाग्यहीन, वैसा ही समाजहीन भी है। वह पृथ्वी-समाजके बिल्कुल बाहर है। हिन्दुस्थानी 'सलाम' शब्दका अभिवादन-सूचक कोई पर्याय शब्द बंगला साहित्यमें नहीं है। इसका कारण यह है कि बंगालियोंका व्यावहारिक सम्बन्ध सीमित है, वह घर और ग्रामके सम्बन्धकी सीमासे बाहर नहीं जाता। साधारण संसारके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये अपरिचित समाजके साथ मिलते समय कोई शिष्टाचारका नियम नहीं खोज पाता। एक हिन्दुस्थानी सभ्यताके लिहाजसे—चाहे अंग्रेज हो, चाहे चीना—सभीको सलाम करता है, बंगाली वहाँ नमस्कार भी नहीं कर सकता और सलाम भी नहीं कर सकता। वह वहाँ बिल्कुल जंगली बन जाता है। 'गालिनें काफी कपड़े-

लत्तेंसे ढँकी नहीं होतीं। वे सर्वदा असम्वृत रहती हैं। इस कारण भसुर-श्वसुर इत्यादि घरके परिचित सम्बन्धियोंके निकट उन्हें यथेष्ट लज्जा होती है ; किन्तु साधारण भद्र-समाजके उपयुक्त लज्जा प्रकट करनेमें बिल्कुल उदासीन रहती हैं। यह शिथिलता सामाजिक संकीर्णताका फल है। पर्याप्त कपड़े-लत्ते व्यवहार करने और न करनेके सम्बन्धमें बंगाली पुरुषोंमें भी हद्से ज्यादे उदासीनता रहती है। सर्वदा अधिक समय अपने बाल-बच्चों और स्वजन-सम्बन्धियोंमें ही बितानेके कारण उदासीनताका यह भाव उनके हृदयमें जड़ जमा लेता है। इसलिये बंगालियोंके वस्त्राभूषण और रहन-सहनकी अशिष्टताके कारण उनमें एक अपरिचित आलस्य, शिथिलता, स्वेच्छाचार और आत्म-सम्मानका अभाव दिखायी पड़ता है। अतएव यह बंगालियोंकी विशुद्ध बर्बरता है, इसमें सन्देह नहीं।

मैंने कहा—परन्तु इसलिये मैं लज्जित नहीं हूं। किसी-किसी रोगमें ऐसा होता है कि जो हम खाते हैं, वही शक्करकी तरह मीठा हो जाता है। वैसे ही हमारे सभी भले-बुरे आचरण आश्चर्यजनक मानसिक विकारके कारण सिर्फ अतिमिष्ट अलंकारके रूपमें परिणत होते हैं। हम कहा करते हैं कि हमारी सभ्यता आध्यात्मिक सभ्यता है। हमारी सभ्यताका चरम लक्ष्य "खाओ-पीओ और मौज उड़ाओ" का नहीं है। इसलिये सभी जड़-सम्बन्धियोंके विषयमें हमारी इतनी उदासीनता और अनाशक्ति है।

समीरने कहा—किसी सर्वोच्च विषयको सर्वदा लक्ष्य रखनेके कारण बहुत लोग साधारण बातोंको बिल्कुल ही भूल जाते हैं। यदि भूलते नहीं तो उदासीनता तो जरूर दिखलाते हैं। ऐसे लोगोंको

निन्दा करनेका कोई साहस नहीं करता। सभी सभ्य समाजोंमें ही इस प्रकारका एक सम्प्रदाय समाजके सर्वोच्च आसनपर विराजता है। प्राचीन भारतवर्षमें अध्ययनशील ब्राह्मण भी इसी सम्प्रदायके अन्तर्गत थे। किसीने भी ऐसी आशा न की थी, कि वे लोग क्षत्रिय और वैश्योंकी नाईं सज-धज और काम-काजसे उदासीन और निरत रहेंगे। युरोपमें भी इस सम्प्रदायके लोग थे और अब भी हैं।

मध्ययुगके आचार्य्योंकी बात यदि छोड़ भी दें तो भी आधुनिक युगके युरोपमें भी न्यूटन जैसे बड़े-बड़े लोग यदि नवीन फेशनके फूल बाबू बनकर किसी निमन्त्रणमें सम्मिलित होने जांय और सामाजिक लोकाचारका तनिक भी ध्यान न रखें तो भी उन्हें हँसनेवाला कोई नहीं है। इसके लिये उन्हें कोई तिरस्कार करनेवाला नहीं। सभी देशोंमें और सभी युगोंमें कुछ ऐसे महात्मा होते हैं, जो समाजके भीतर रहकर भी समाजसे सम्पूर्ण अनासक्त रहते हैं; कोई रीति-रिवाज नहीं मानते। यदि वे लोग ऐसा न करें तो उनका काम ही नहीं चल सकता और समाज भी इन क्षुद्र शुल्कके लिये उन्हें विरक्त नहीं करता। परन्तु आश्चर्य्यकी बात यह है, कि बंगालमें सिर्फ थोड़ेसे उच्च श्रेणीके महापुरुष ही नहीं बल्कि सारा देशका देश सभी तरहके स्वभाव-वैचित्रोंको भूलकर अन्य समाजोंकी कल्पनाके अतीत आध्यात्मिकताके उच्च शिखरपर सहज ही आरूढ़ हैं। हम लोग ढीली पोशाक और ढीले अदब-कायदेको ही लेकर बड़े आरामसे दिन बिता रहे हैं। हम चाहे जैसे रहें, जैसे ही अपनी चाल-ढाल रहन-सहन रखें, किसीको उसमें समालोचना करनेकी जरूरत नहीं—अधिकार भी

नहीं। क्योंकि हममेंसे उत्तम, मध्यम और नीच सभी प्रकारके लोग मैली चद्दर लेकर निर्गुण ब्रह्मको पानेके लिये साधना कर रहे हैं।

इसी समय व्योम अपनी मोटी लाठी लेकर हाजिर हुआ। उनकी आजकी पोशाक दूसरे दिनोंकी अपेक्षा और भी निराली थी। इसका कारण यह था, कि उस घरमें आज एक उत्सव था इसलिये उन्होंने अपने नित्यके पहनावेके ऊपर चपकनकी तरहका एक बेढंगा शालका कुरता पहन लिया था। उस चपकनके भीतरसे बेनाप कटे हुए कपड़े दिखायी पड़ते थे। देखकर हम लोग हँसी न रोक सके और दीप्ति तथा स्रोतस्विनीके मनमें बड़ी घृणा उत्पन्न हो गयी।

व्योमने कहा—तुम लोगोंमें किस विषयपर वाद-विवाद हो रहा है?

समीरने हमारी आलोचनाका थोड़ा अंश व्योमको सुनाकर कहा—मेरे सारे देशने ही वैरागीका 'वेश' धारण किया है।

व्योमने कहा—वैराग्यके समान कोई दूसरा ऐसा वृहत् कर्म हो ही नहीं सकता कि जो समस्त देशका आश्रयस्थल बन जाय। आलोकके साथ जैसे छाया रहती है, वैसे ही कर्मके साथ वैराग्यका निरन्तर सम्बन्ध रहता है। वैराग्यके ऊपर जिसका जितना ही अधिक प्रभुत्व होता है, वह उतना ही अधिक काम कर सकता है।

क्षितिने कहा—इसलिये जब सारा संसार सुखकी आशासे लाखों तरहके उद्योग कर रहा था, उस समय वैरागी डारविनने संसारके सभी काम-काज छोड़कर सिर्फ इसी बातको सिद्ध करनेमें अपनी सारी जिन्दगी लगा दी, कि मनुष्यका आदि पुरुष बन्दर

था। इस समाचारको खोज निकालनेमें डारविनको अनेकों त्याग करने पड़े हैं।

व्योमने कहा—असंख्य आसक्तियोंसे गेरीबाल्डी यदि अपनेको स्वाधीन न कर सकते तो वह इटलीको भी स्वाधीन न कर सकते थे। कर्मनिष्ठ जातियाँ ही वास्तवमें वैरागी हैं। जो लोग ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जीवन और जीवनके सभी सुख-सम्भोगोंको तृणवत् त्याग कर तुषारमण्डित हिमालयके सर्वोच्च शिखरपर पहुँचना चाहते हैं और बार-बार व्यर्थ प्रयास होकर भी हतोत्साह नहीं होते, वे ही वास्तवमें वैरागी हैं। जो लोग धर्मप्रचारके उद्देश्यसे नरमांसाशी राक्षसोंके देशमें जानेसे नहीं हिचकते—जो लोग मातृभूमिका आह्वान सुनकर अनायास धन-जन-गौरवकी सुख शय्याको त्याग कर दुःसह क्लेशाकर अति निष्ठुर मृत्युको भी आलिङ्गन करनेके लिये तैयार हो जाते हैं, वे ही यथार्थ वैरागी हैं। और हम लोगोंका कर्महीन, श्रीहीन, निश्चेष्ट, निर्जीव वैराग्य सिर्फ अधःपतित जातिकी मूर्च्छावस्थाके सिवा और कुछ नहीं। वह तो जड़ता है, उसका गर्व करना मूर्खता है।

क्षितिने कहा—अपनी इस मूर्च्छावस्थाको हम लोग कहते हैं कि आध्यात्मिक 'दशा' की प्राप्ति हो गयी है और ऐसा ही अनुभव कर हम लोग भक्तिसे विह्वल हो जाते हैं। इसी धारणासे हम समस्त कर्मसे च्युत हो जाते हैं।

व्योमने कहा—कर्मीको कर्मका कठिन नियम मान कर काम करना होता है। इसलिये अपने कर्मका नियम पालन करते समय उसे अनेकों छोटे-छोटे कर्मोंकी उपेक्षा करनी पड़ती है। ऐसा करना उसके लिये क्षम्य है। किन्तु अकर्मण्यकी उपेक्षा क्षम्य

नहीं हो सकती है। जो मनुष्य जल्दी-जल्दी दफ्तरको दौड़ रहा है, उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि रास्तेमें सभीके साथ शिष्टतापूर्वक व्यवहार करता हुआ, सबका प्रत्यभिवादन करता हुआ जायगा। अंग्रेज माली जब शरीरसे कुर्त्ता निकाल, हाथकी आस्तीन समेटकर बागीचेमें काम करता है, उस समय यदि उसके मालिककी स्त्री उसे देखकर लज्जित होवे तो इसमें किसका दोष है? किन्तु हम लोग जब बिना काम-काजके सारा दिन रास्तेके एक किनारे, अपने घरके दरवाजे पर तोंद खोले हुए, घुटनेके ऊपर तक धोती समेट कर बैठे-बैठे निर्लज्जताके साथ हुक्केका दम लगाते हैं, तब हम संसारके सामने किस महान् वैराग्य और किस उन्नत आध्यात्मिकताकी दुहाई देकर अपनी इस बर्बरता और सभ्यतापर पर्दा डाल सकते हैं? जिस वैराग्यके साथ कोई महान्, सचेष्ट उद्योग नहीं मिला हुआ है, वह असभ्यताके सिवा क्या हो सकता है?

व्योमके मुखसे ये बातें सुनकर स्रोतस्विनीको बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ देर चुप रहकर बोली—जबतक हमारा भद्र समाज सर्वदा यह ध्यानमें न रखेगा कि शिष्टता पूर्वक व्यवहार करना—भद्रतासे रहना हमारा कर्त्तव्य है और जबतक इस सिद्धान्तके अनुसार वह अपने वस्त्राभूषण, चाल-चलन, आचार-व्यवहार और रहन-सहनमें सम्पूर्ण भद्रतापूर्वक रहनेकी चेष्टा न करेगा, तबतक वह अपने आत्मसम्मानका आदर नहीं कर सकता और दूसरेके निकट भी उसके सम्मानका कोई मूल्य नहीं हो सकता। हम लोगोंने अपना मूल्य स्वयं घटा दिया है।

क्षितिने कहा—बस मूल्यको बढ़ानेके लिये वेतनवृद्धि भी करनी होगी। परन्तु यह तो मालिकोंके हाथकी बात है।

दीप्तिने कहा—वेतनवृद्धिकी आवश्यकता नहीं, चेतनवृद्धिकी आवश्यकता है। हमारे देशमें पैसेवाले भी गन्दे कपड़े पहने रहते हैं। वे भी अपने पहनाव-ओढ़ावकी तरफ ध्यान नहीं देते। इसका कारण उनकी जड़ता और मूर्खता है, अर्थाभाव नहीं। जिसके पास पैसा है, वह समझता है कि घोड़े गाड़ीके बिना उसके ऐश्वर्य्यका प्रमाण ही नहीं मिल सकता। किन्तु यदि हम उसके अन्तःपुरमें प्रवेश करें तो देखेंगे कि उसकी हवेली गोशालेसे भी गयी-गुजरी है। अहंकारके लिये जितनी सजधज और दिखावट की जरूरत होती है उसपर हम पूरा ध्यान देते हैं, परन्तु आत्म-सम्मानके लिये,—स्वास्थ्य-रक्षाके लिये—शिष्टताकी मर्य्यादा रक्षाके लिये जितनी आवश्यकतायें हैं; उनकी पूर्तिके लिये हमारे पास रुपया ही नहीं रहता! हम लोगोंकी स्त्रियाँ इस बातकी कल्पना भी नहीं करतीं कि सौन्दर्य्यवृद्धिके लिये जितने अलंकारकी आवश्यकता है, उसकी अपेक्षा अधिक आभूषण पहनकर धनगर्व प्रकट करना इतरजनोचित अभद्रता है। इस अहंकार तृप्तिके लिये उनका धनागार कुवेरको भी मात करता है। परन्तु आंगनका कूड़ा-करकट और शयन गृहका गन्दापन और राखपात दूर करनेके लिये उनमें कोई आग्रह और तत्परता नहीं देखी जाती। रुपयेकी कमी नहीं है, वस्तुतः हमारे देशमें यथार्थ भद्रताका आदर्श अभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ है।

स्रोतस्विनीने कहा—इसका प्रधान कारण यह है, कि हम लोग आलसी हैं। रुपये रखनेसे ही बड़प्पन दिखलाया जा सकता है और रुपये न रहनेपर भी नवाबी चाल चली जा सकती है, किन्तु भद्र होनेके लिये आलस्यका परित्याग करना अनिवार्य्य है, सदैव

अपनेको उन्नत सामाजिक आदर्शके उपयुक्त बनाये रखनेकी उसे चेष्टा करनी पड़ती है, और विपद् स्वीकार करके आत्म-विसर्जन करना पड़ता है।

क्षितिने कहा—परन्तु मैं तो समझती हूँ कि हम लोग स्वभाव के बच्चे हैं और इसलिये बड़े सरल हैं। धूल कीचड़, नग्नता इत्यादि सभी प्रकारकी अशिष्टता और नियम-हीनतामें हम तनिक भी लज्जाका अनुभव नहीं करते। हमारे सभी आचरण अकृत्रिम और आध्यात्मिक हैं!

चौदहवीं बैठक

घरमें एक उत्सव था। इसीलिये शामको पास ही मंचके ऊपरसे बरवा रागमें सहनाई बज रही थी। व्योम बहुत देर तक आँख मूंदे बैठे थे। एकाएक चारों ओर देख कर कहने लगे :—

हमारे देशकी इन सभी रागिनियोंमें एक परिव्याप्त मृत्युशोकका भाव छिपा रहता है। सुर मानो रो-रो कर कहता है कि संसारमें कुछ भी स्थायी नहीं है। संसारमें सभी चीजें अस्थायी हैं, इस बातसे सभी जीवधारी परिचित हैं। इस बातकी धारणा करके किसीको हर्ष नहीं होता—यह जानी हुई बात है। तथापि इस वंशीके मुखसे इसी बातको सुन कर हम इस पर मुग्ध क्यों हो जाते हैं? इसका कारण यह है कि वंशी संसारके सबसे बड़े अप्रिय और कठोर सत्यको रागिनीकी तरह मधुर बना कर कहती है—मालूम होता है, मृत्यु इस रागिनीकी तरह ही सकरुण है;

परन्तु साथ ही साथ वह उसीकी तरह मधुर और सुन्दर भी है। संसारकी छाती पर सबसे भारी यह जो मृत्युभयका बोझ रखा हुआ है, उसको एक मन्त्रके प्रभावसे यह रागिनी हल्का कर देती है। यही सत्य यदि किसीके हृदयसे उच्छ्वासित होता तो उससे वेदनाका जो चित्कार निकल पड़ता, शोकका जो उच्छ्वास क्रन्दन बन कर आकाश-पातालको विदीर्ण कर देता, वंशीने उसीको सारे संसारके मुखसे ध्वनित करके एक अगाध करुणापूर्ण और अनन्त सान्त्वनामयी रागिनीकी सृष्टि की है।

दीप्ति और स्रोतस्विनी आतिथ्य सत्कार और कुशल-प्रश्नको पूरा कर अभी आकर बैठी ही थीं कि इतनेमें जब उन्होंने आजके उत्सवके दिन व्योमके मुखसे मृत्यु-विषयक आलोचना सुनी, तब वे अत्यन्त क्रुद्ध हो गयीं। व्योम उनके क्रोधको न समझ सकनेके कारण अविचलित भावसे बिना हिचकिचाहटके बोलते गये। बाजा बहुत मीठा लगता था। हमलोगोंने उस दिन बहुत वाद-विवाद नहीं किया।

व्योमने कहा—आजकी यह वंशी सुनकर मुझे एक बात खास कर ध्यानमें आ जाती है। सभी कविताओंमें एक न एक रस रहता है। अलंकार शास्त्रमें उन्हीं रसोंको आदि, करुण और शान्ति इत्यादि भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। मैं समझता हूँ कि, यदि संसार-रचनाको काव्य दृष्टिसे देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि मृत्यु ही उसका प्रधान रस है। मृत्यु ही उसे यथार्थ कवित्व शक्ति प्रदान करती है। संसारमें यदि मृत्यु न होती, संसारकी सभी चीजें यदि जहाँ की तहाँ अविकृत स्थितिमें पड़ी रहतीं, तो संसार एक चिरस्थायी समाधिमंदिरकी तरह अत्यन्त

संकीर्ण—अत्यन्त कठिन और अत्यन्त सीमित हो जाता। इस अनन्त निश्चलताके चिरस्थायी बोझको सहना प्राणियोंके लिये कठिन हो जाता। मृत्यु इस अस्तित्वके भीषण भारको सर्वदा हल्का बनाये रखती है और संसारको विचरण करनेके लिये खुला मैदान तैयार रखती है। जिधर मृत्यु है, उधर ही संसारकी असीमता है। उसी अनन्त रहस्यभूमिको लक्ष्य कर मनुष्यकी समस्त कवितायें, समस्त संगीत, समस्त धर्म्मशास्त्र और समस्त तृप्तिहीन वासनायें समुद्रपारगामी पक्षीकी तरह आश्रयकी खोजमें अग्रसर हो रही हैं। जो वस्तु प्रत्यक्ष और वर्त्तमान है, वह तो यों ही हमारे लिये अत्यन्त भीषण और प्रबल है। उसपर भी यदि वह चिरस्थायी होती तो उसका निरंकुश शासन हमारे लिये असह्य हो जाता। उनपर हमारा अनुरोध, उपरोध और अपील कुछ भी न चलती। उस समय कौन बता सकता था, कि इसके बाद भी असीमता है। यदि मृत्यु इस अनन्तको अपने चिरप्रवाहमें निरन्तर बहाती न रहती तो संसारके लिये इस अनन्तका बोझा सह लेना कदापि सम्भव न होता।

समीरने कहा—यदि मरना न होता तो जीवित रहनेका कुछ मूल्य ही न था। जिसको सारा संसार घृणा करता है, वह भी मृत्युकी बदौलत अपने जीवनको गौरवमय समझता है। वह सभीके तिरस्कार और लांच्छना एक मृत्युके भरोसे सहन कर लेता है।

क्षितिने कहा—मैं इसके लिये अधिक चिन्तित नहीं हूँ। मैं समझती हूं, कि यदि मृत्यु न होती तो किसी वस्तुके बाद पूर्ण विराम नहीं देखा जा सकता था अर्थात् कोई बात पूरी नहीं कही

जा सकती थी। मेरे मतमें यही सबसे अधिक विचारनेकी बात है। उस समय यदि व्योम अद्वैत तत्त्वके सम्बन्धमें चर्चा छेड़ देते तो कोई दोनों हाथ जोड़कर यह बात कहनेका साहस नहीं कर सकता था, कि भाई साहब, अभी समय नहीं है, इस बातको छोड़ो। मृत्यु न होनेपर अवसरकी कभी कमी न होती। इस समय मनुष्य ७, ८ वर्षसे अध्ययन आरम्भ कर पचीस छब्बीस वर्षके भीतर ही भीतर कालेजकी डिग्री लेकर अथवा अनुत्तीर्ण होकर पुस्तकको ताक पर रखता है, परन्तु उस अवस्थामें किसी विशेष उम्रतक अध्ययन समाप्त करने की कोई शीघ्रता न रहती। सभी प्रकारके काम काज और जीवन-यात्रासे कामा, सेमी-कोलन और पूर्ण विरामका बहिष्कार हो जाता।

व्योम इन बातोंपर विशेष ध्यान न देकर अपने चिन्तासूत्रका अनुसरण करते हुए कहने लगे—संसारमें केवल मृत्यु ही चिर-स्थायिनी है, इसलिये हमलोगोंने अपनी समस्त आशाओं और वासनाओंको उसी मृत्युके भीतर प्रतिष्ठित किया है। हमारा स्वर्ग, हमारा पुण्य और हमारा अमरत्व सभी कुछ एक उसी मृत्युके भीतर है। जिस वस्तुको हम इतना प्रिय समझते हैं, कि उसके विनाशकी कल्पना भी हमारे मनमें नहीं उठती, उसीको हम मृत्युके हवाले छोड़कर जीवनके अन्तकी प्रतीक्षा करने लगते हैं। मृत्युमें न्याय नहीं है, यथार्थ न्याय है मृत्युके उस पार। समस्त वासनायें, हृदयकी सारी अभिलाषायें पृथ्वीपर निष्फल होती हैं। मृत्यु-रूपी कल्पतरुमें ही वास्तविक सफलता है। संसारमें चारों ओर कठिन स्थूल वस्तुओंका ढेर हमारे मानसी आदर्शोंको प्रतिहत करता रहता है—हमारी अमरता और असीमताको झूठा सिद्ध कर रहा

है, परन्तु संसारकी सीमापर, जहाँ मृत्युका राज्य है, सभी वस्तुओंका अवसान दिखलायी पड़ता है। वहीं हमारी प्रियतम, प्रबलतम वासनाओं और पवित्रतम, सुन्दरतम, कल्पनाओंका कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। वहीं वे अनायास करतलगत होती हैं। हमारे शिव श्मशानवासी हैं, हमारे सर्व्वोच्च मंगलका आदर्श मृत्युके मुखमें है।

मुलतानी बरवा समाप्त कर संध्याके समय शहनाईमें पुरबी रागिनी बजने लगी।

समीरने कहा—हमलोगोंने जिन आशाओं और आकांक्षाओंको मृत्युके उस पार सर्वदाके लिये निर्वासित कर रखा है, यह वंशीका सुर उन्हींको पुनः संसारमें प्रवर्तित करता है—चिरकालके विरह विच्छेदके अश्रुजलको पोंछ देता है। हृदयको फिर नवआशाओं का धनागार बना देता है, जीवन एक नवोत्साहसे परिपूर्ण हो जाता है। क्रमसे साहित्य, संगीत और सारी ललित कलायें मनुष्य-हृदयके समस्त चिरस्थायी पदार्थ मृत्युके उस पारसे इस जीवनके भीतर लौट आते हैं और कहते हैं कि पृथ्वीको स्वर्ग, वास्तवको सुन्दर और जीवनको अमर बनाना हमारा उद्देश्य होगा। मृत्यु मानो संसारका असीम रूप व्यक्त कर देती है। उसको एक अनन्त "कोहवरकी-शय्या" पर अत्यन्त रहस्य पूर्वक परिणयपाशमें जोड़ देती है, उस बद्धद्वार "कोहवर" की गुप्त खिड़कीसे अनन्त सौन्दर्य्य, सुगन्ध और संगीत आकर हमें स्पर्श करता है, इसी प्रकार साहित्य रस और कलारस हमारे जड़भार-ग्रस्त विक्षिप्त प्रात्यहिक जीवनके भीतर प्रत्यक्षके साथ अप्रत्यक्ष, अनित्यके साथ नित्य, तुच्छके साथ सुन्दर, व्यक्तिगत तुच्छ सुख-दुःखोंके साथ विश्वव्यापी बृहत रागिनीका सम्बन्ध जोड़ देते हैं।

हम अपने समस्त प्रेमको इस पृथ्वीसे बटोरकर मृत्युके उस पार न भेज देंगे; यहीं इस पृथ्वीपर ही रखेंगे। इसी बातको लेकर तर्क चल रहा है। हमारा प्राचीन वैराग्यधर्म कहता है, कि परलोकमें ही यथार्थ प्रेमका स्थान है। नवीन साहित्य और ललित कलायें कहती हैं, कि इस संसारमें हम उसके लिये स्थान दिखा देंगी।

क्षितिने कहा—इस प्रसंगपर मैं एक अपूर्व रामायणकी बात कहकर सभा भंग कर देनी चाहती हूं।

राजा रामचन्द्र—अर्थात् मनुष्य प्रेम नामक सीताको अनेक राक्षसोंके हाथसे छुड़ाकर अपनी अयोध्यापुरीमें लाते हैं और सुखसे दिन बिताते हैं। इतनेमें कई एक धर्मशास्त्रोंने मिलकर प्रेमके नाम कलंक लगाया। कहा—इन्होंने अनित्यके साथ निवास किया है। इन्हें त्याग करना होगा। सचमुच, अनित्यके घर बन्द रहकर इस देवांशजात राजकुमारीको कलंक नहीं लगेगा—इसका क्या प्रमाण है? एक अग्नि परीक्षासे प्रमाण प्राप्त किया जा सकता है। उसका तो व्यवहार किया जा चुका है। उससे तो इसका अनिष्ट होनेके बदले इसकी कान्ति और भी उज्वल हो गयी। तथापि शास्त्रोंकी बोलचालके कारण अन्तमें सीताको मृत्युतमसाके किनारे निर्वासित कर दिया गया। इसके बाद महाकवि और उनके शिष्यों के आश्रयमें रहकर इस अनाथिनीको कुश और लव—काव्य और ललितकला नामक दो पुत्र पैदा हुए। वही दोनों कुमार अपने गुरुसे रागिनी सीखकर राजसभामें अपनी परित्यक्त माताका यशोगान करनेके लिये आये हैं। इन नवीन गायकोंका गान सुनकर विरही राजाका चित्त चञ्चल और नेत्र अश्रुसिक्त हो गये हैं। अभी उत्तरकाण्ड पूरा नहीं हुआ है। अभी देखना है, कि त्याग प्रचारक वैराग्य-धर्मकी जय होती है या प्रेममंगल गायक दोनों अमर बच्चोंकी।

पन्द्रहवीं बैठक

विज्ञानकी आदिम उत्पत्ति और चरम लक्ष्यके सम्बन्धमें व्योम और क्षितिमें तर्कवितर्क चल रहा था। इसी सम्बन्धमें व्योमने कहा—

यद्यपि हमारी कौतूहल वृत्तिके भीतरसे ही विज्ञानकी उत्पत्ति हुई है तथापि मेरा विश्वास है कि हमारा कौतूहल, विज्ञानको खोजनेके लिये नहीं निकला था—वरन् उसकी आकांक्षा बिल्कुल अवैज्ञानिक है। वह खोजता तो है स्पर्शमणि और निकल पड़ता है पुराने जीवका अँगूठा ; वह चाहता है अलाउद्दीनका आश्चर्य्य प्रदीप और पाता है दियासलाईका बक्स ; आल्किमिटको (विज्ञान शास्त्रका आदि तत्त्व) प्राप्त करना उसका उद्देश्य था, निकल पड़ी केमिस्ट्री। आस्ट्रोलोजीके लिये वह आकाश छान डालता है, पाता है, नर्मन लाकइयोकी ऐस्ट्रोनामी। वह नियम नहीं खोजता, वह कार्य्य कारण शृङ्खलाकी नयी-नयी उँगलियाँ नहीं गिनना चाहता ; वह खोजता है नियमका विच्छेद, वह चाहता है एक ऐसे स्थानपर पहुँच जाना जहाँ कार्य्य कारणकी अनन्त पुनरुक्ति न हो। वह चाहता है, अभूत पूर्व नवीनता। परन्तु बुड्ढा विज्ञान उसके पीछे-पीछे आकर उसकी सभी नवीनताएँ पुरानी बना देता है, उसकी इन्द्रधनुको परकला-विच्छूरित वर्णमालाका परिवर्द्धित संस्करण और पृथ्वीकी गतिको पकताल फल पतनकी श्रेणीमें रख छोड़ता है।

जो नियम इस धूलिकणमें है, वही नियम इस अनन्त आकाश

और अनन्तकालमें काम कर रहा है। इसी आविष्कारके सम्बन्ध-में हम आनन्द और आश्चर्य्य प्रकट करते हैं। किन्तु यह आनन्द और विस्मय मनुष्यका स्वाभाविक आवेश नहीं है। उसने अनन्त आकाशमें, ज्योतिष्कराज्यके भीतर, जब अनुसन्धान दूत भेजा था, तब उसे बड़ी आशा हुई थी, कि उस ज्योतिर्मय, अन्धकारमय धाममें वह एक ऐसा स्थान पायेगा, जहाँ धूलिकणका नियम न होगा, जहां एक अपूर्व, स्वर्गीय अनियमका उत्सव होता होगा ; किन्तु अब देखता है कि ये चन्द्र सूर्य्य, ग्रह नक्षत्र, सप्तर्षि मण्डल और अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि भी हमारे धूलि-कणोंके ही बड़े भाई-बहनें हैं। इस नवीन तथ्यको लेकर हम जो आनन्द प्रकट करते हैं, वह तो अब एक नया बनावटी अभ्यास हो गया है। यह हमारी आदिम प्रकृतिके भीतर नहीं है।

समीरने कहा—यह बात बिलकुल झूठ नहीं। स्पर्शमणि और अलाउद्दीनके प्रदीपकी ओर, प्रकृतिमें रहनेवाले मनुष्यमात्र ही का एक निगूढ़ आकर्षण है। बचपनमें शिक्षावलीमें एक कहानी पढ़ी थी कि कोई किसान मरते समय अपने लड़कोंको बुलाकर कह गया कि अमुक खेतमें मैं गुप्त धन गाड़े जाता हूँ। लड़के बहुत खोजनेपर भी धन न पा सके, किन्तु बहुत खनने कोड़नेके कारण खेतमें बहुत अन्न पैदा हुआ। उनको अब कोई कष्ट न रह गया। बालक प्रकृतिके सभी लोग इस गल्पको पढ़कर दुखित होते हैं। खेती करके तो सारा जहान अनाज उपजाता है ; किन्तु गुप्तधन गुप्त है, इसीलिये कोई उसे नहीं पाता। यह विश्वस्थायी नियमका एक व्यतिक्रम और व्यभिचार है। वह आकस्मिक हुआ करता है, इसीलिये मनुष्य स्वभावतः उसके लिये इतना लालायित रहता

है। शिक्षावली चाहे कुछ भी कहे पर किसानके लड़के अपने पिताके प्रति कभी कृतज्ञ नहीं हुए होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। वैज्ञानिक नियमके प्रति मनुष्य कितनी अवज्ञा प्रकट करता है, इसे गिनानेकी आवश्यकता नहीं। अपनी निपुण चिकित्सा द्वारा जो डाक्टर बहुतसे रोगियोंको नीरोग कर देता है, उसके सम्बन्धमें हम कहते हैं, कि "उसके भाग्य अच्छे हैं" शास्त्रसंगत चिकित्सासे डाक्टर रोग दूर करता है, ऐसा कहनेसे हमारे हृदयमें सन्तोष नहीं होता। उसके भीतर साधारण नियमका व्यतिक्रम-स्वरूप एक बातको मिला देनेपर हमारी आत्मा सन्तुष्ट हो जाती है।

मैंने कहा—इसका कारण यह है, कि नियम अनन्तकाल और अनन्तदेशमें फैला रहनेपर भी सीमाबद्ध है। वह अपनी अंकित रेखासे यव भर भी इधर उधर नहीं हो सकता। शास्त्रसंगत चिकित्सासे हम अधिक भी आशा नहीं करते। ऐसे रोग भी हैं जो चिकित्सासे दूर नहीं हो सकते। किन्तु 'भाग्य' नामक रहस्यमय वस्तुकी अभी ठीक सीमा निश्चित नहीं हुई है। इसी-लिये वह हमारी आशा और कल्पनाको कहीं कड़ी चोट नहीं पहुँचाता। यही कारण है कि डाक्टर औषधकी अपेक्षा अव-धौतिक औषधका अधिक आकर्षण होता है। उसका फल कितना हो सकता है, इस विषयमें हमारी प्रत्याशाकी सीमा नहीं है। मनुष्यकी अभिज्ञता जितनी बढ़ती जाती है, अमोघ नियमके लौहप्राचीरमें वह जितना ही आघात पाता है, उतना ही वह अपनी स्वाभाविक अनन्त आशाको सीमाबद्ध करता जाता है, कौतूहल वृत्तिकी स्वाभाविक नवीनताकी आकांक्षाको संयत करता

रहता है। नियमको राजपद पर प्रतिष्ठित करता है और पहले अनिच्छासे फिर पीछे अभ्यासके कारण उसके प्रति राजभक्ति दिखलाने लगता है।

व्योमने कहा—किन्तु वह भक्ति यथार्थ भक्ति नहीं है। वह काम निकालनेकी भक्ति है। जब बिल्कुल निश्चय हो जाता है, कि संसारका कार्य्य अपरिवर्त्तनीय नियमसे बँधा हुआ है। तब वाध्य होकर प्राण-भयसे उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है। तब विज्ञानके बाहर अनिश्चयके हाथमें आत्मसमर्पण करनेका साहस नहीं होता। तब इलेक्ट्रिसिटी, माग्नेटिज्म, हिप्नोटिज्म इत्यादि विज्ञान जालको देखकर 'यंत्र' और धागा बाँधनेकी लालसाको रोकना पड़ता है। लोग इस नियमकी अपेक्षा अनियमको ही अधिक पसन्द करते हैं, इसका कारण है—हम अपने भीतर एक जगह नियमका विच्छेद रखते हैं। हमारी इच्छाशक्ति सभी नियमोंके बाहर है—वह बिल्कुल स्वतन्त्र है। कमसे कम हम ऐसा ही अनुभव करते हैं। अपनी प्रकृतिके इस स्वाधीनताको वाह्य प्रकृतिमें उपलब्ध करके स्वभावतः हम बहुत आनन्दित होते हैं। इच्छाके प्रति इच्छाका आकर्षण बहुत प्रबल होता है। इच्छासे जो दान हम पाते हैं, वह हमें बहुत प्रिय लगता है। कोई हमारी सेवा जितना ही करे, यदि उसमें इच्छाका संयोग नहीं हो, तो वह सेवा प्रीतिकर नहीं होती है। इसीलिये जब हम जानते हैं कि इन्द्र हमारे लिये वर्षा करते हैं, मरुत हमारे लिये हवा पहुँचाते हैं, अग्नि हमें दीप्ति देती है, तब उस ज्ञानके भीतर हमें एक आन्तरिक तृप्ति होती थी। अब हम जानते हैं कि धूप, वर्षा और वायुमें इच्छा अनिच्छा कुछ भी नहीं है। वे योग्य-अयोग्य, प्रिय-अप्रियका विचार न करके

निर्विकार भावसे नियमानुसार काम करते जा रहे हैं। आकाशमें यदि वाष्प एकत्र होकर शीतल वायुके संयोगसे जलकणमें परिणत होंगी, तभी साधुओंके पवित्र मस्तकपर वर्षा होगी और उन्हें ठंडक पहुँचेगी। साथ ही वर्षा पापी असाधुओंके सिरपर भी समान ठंडक पहुँचायेगी। विज्ञानकी आलोचना करते-करते क्रमशः ये अप्रिय बातें हमें सह्य हो जाती हैं, परन्तु वास्तवमें ये हमें अच्छी नहीं लगतीं।

मैंने कहा—पहले-पहल हमने जहाँ स्वाधीन इच्छाका शासन अनुमान किया था, अब वहाँ नियमका अन्ध शासन देखते हैं। इसीलिये विज्ञानकी आलोचना करने पर संसार निरानन्द इच्छा-सम्पर्क-विहीन प्रतीत होता है। परन्तु इच्छा और आनन्दोल्लास जब तक हमारे हृदयमें हैं, तब तक हम संसारके भीतर भी उसे अनुभव करेंगे। पहले हमने उसकी जहाँ कल्पना की थी, वहाँ यदि वह नहीं है, तो कोई चिन्ता नहीं। यदि हम ऐसी कल्पना न करें कि वह अपनी प्रकृतिके अन्तरतम स्थानपर प्रतिष्ठित है, तो हम अपनी अन्तरतम प्रकृतिके ऊपर अत्याचार करेंगे। हमारे भीतर समस्त विश्व-नियमोंका जो एक व्यतिक्रम देखा जाता है, संसारमें कहीं भी उसका कोई मूल आदर्श नहीं, इस बातको माननेके लिये हमारी अन्तरात्मा राजी नहीं होती। इसीलिये हमारी इच्छा विश्व-इच्छाकी अपेक्षा न करने पर भी बची रह सकती है। इसी प्रकार हमारे प्रेमको भी विश्व प्रेमकी विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती।

समीरने कहा—जड़ प्रकृतिके नियमकी प्राचीर सभी जगह चीन देशकी प्राचीरकी अपेक्षा भी दृढ़, प्रशस्त और अभ्रभेदी है। बीचमें

मानव-प्रकृतिके भीतर एक छोटासा छेद निकल आया है। वहीं नजर गड़ा कर हमने एक अत्याश्चर्य्य आविष्कार किया है—देखते हैं कि प्राचीरके उस पार एक अनन्त अनियम विस्तृत क्षेत्र है। इस छोटेसे छेदके जरिये उसका और हमारा संयोग है। उसके भीतरसे सभी सौन्दर्य्य, स्वाधीनता, प्रेम आनन्द प्रवाहित होता है। इसीलिये इस सौन्दर्य्य और प्रेमको बाँध रखनेवाला कोई विज्ञान अभी नहीं आविष्कृत हुआ है।

इसी समय स्रोतस्विनी कमरेमें पैठकर समीरसे बोली—उस दिन तुम लोग दीप्तिकी पियानो-गाइडिङ्ग कापी खोजते थे, वह तुम्हें नहीं मिली। जानते हो, उसकी क्या दशा हुई है?

समीरने कहा—नहीं तो।

स्रोतस्विनीने कहा—एक चूहेने उसे टुकड़े-टुकड़े करके पियानो के तार पर छितरा दिया है। उस चूहेको न जाने इस अनिष्ट साधनसे क्या फायदा हुआ है?

समीरने कहा—यह चूहा शायद अपने चूहे कुलमें एक बड़ा शक्तिशाली वैज्ञानिक है। बड़ी गवेषणासे उसने वाद्ययन्त्रके साथ इस वाद्य पुस्तिकाका एक सम्बन्ध अनुमान किया है। सारी रात उसने यही परीक्षा जारी रखी है। विचित्र ऐक्यता पूर्ण रस संगीतका रहस्योद्घाटन करनेका उसने अक्लान्त उद्योग किया है। तीक्ष्ण दण्डाग्र भागके द्वारा वाद्य पुस्तिकाका क्रमागत विश्लेषण किया है, पियानोके तारके साथ उसे अनेकों प्रकारसे संलग्न करके देखा है। अभी उसने वाद्य पुस्तिकाको काटा है, फिर पियानोंके तार काटेगा, अन्तमें वाद्ययन्त्रमें लाखों छेद करके उनमें अपनी नाक और विचित्र कौतूहलको प्रवेश कर देखेगा

कि इसमें क्या रहस्य है। फलतः संगीत भी उत्तरोत्तर रहस्यमय होता जायगा। मेरे मनमें यह तर्क उठता है, कि मुषिक कुलतिलकने जो उपाय अवलम्बन किया है, उससे तार और कागजके उपादानके विषयमें कोई नया तत्त्व भले ही आविष्कृत हो जाये, परन्तु तार के साथ कागजका जो सम्बन्ध है, हजारों वर्षकी चेष्टासे भी वह प्रकट नहीं हो सकता है। अन्तमें संशयपरायण नव्य मुषिकोंके मनके क्या यह तर्क नहीं उठेगा कि कागज सिर्फ कागज है। उसके साथ तारका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। ज्ञानवान जीवोंकी चेष्टा से उनके कागज और तारके भीतर जो आनन्दजनक उद्देश्य बंधन लग गया है, वह प्राचीन हिन्दुओंका एक युक्तिहीन संस्कार है। उस संस्कारका एक शुभफल यह देखनेमें आता है, कि उसीके प्रवर्त्तन और अनुसंधानमें प्रवृत्त होने पर तार और कागजकी आपेक्षिक कठिनताके विषयमें बहुत कुछ परीक्षा पूरी हो जाती है।

किन्तु किसी-किसी दिन जब वह बिल बनानेमें दाँतोंका प्रयोग करता रहता है, तब बीच-बीचमें संगीतध्वनि कर्णकुहरमें प्रवेश करती है और अन्तःकरणको क्षणभरके लिये मोहाविष्ट कर देती है। ऐसा क्यों होता है? वास्तवमें यह रहस्यपूर्ण बात है। किन्त वह रहस्य, कागज और तारके सम्बन्धमें अनुसन्धान करते समय, अपने आप सैकड़ों छेदोंके आकारमें प्रकट हो जायगा।